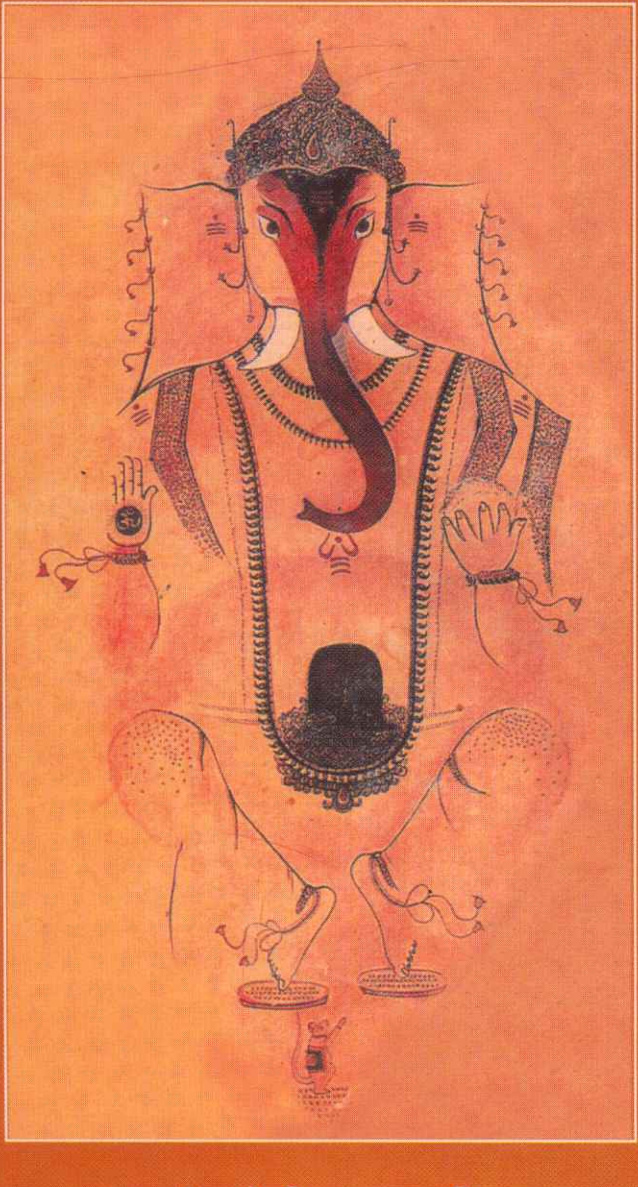
प्रज्ञान तथा क्रम पथ



म.म.पं. गोपीनाथ कविराज

प्रज्ञान तथा क्रमपथ

लेखक
महामहोपाध्याय
डॉ० पं० गोपीनाथ कविराज

अनुवादक
एस० एन० खण्डेलवाल

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

PRAJYAN TATHA KRAM PATH
by
M. M. Pt. Gopinath Kaviraj

ISBN : 81-7124-281-2

संस्करण : २००० ई०

प्रकाशक
विश्वविद्यालय प्रकाशन
चौक, वाराणसी-२२१ ००१
फोन व फैक्स : (0542) 353082, 353741
E-mail : vvp@vsnl.com ● E-mail : vvp@ndb.vsnl.net.in

मुद्रक
वाराणसी एलेक्ट्रॉनिक कलर प्रिण्टर्स प्रा० लि०
चौक, वाराणसी-२२१ ००१

निवेदन

महामनीषी महामहोपाध्याय डॉ० गोपीनाथ कविराज जी के इत:स्तत: बिखरे प्रबंधो का जो समसामयिक पत्रिकाओं में बंगभाषा में छपे थे, भाषानुवाद 'प्रज्ञान तथा क्रमपथ' की संज्ञा से अभिहित होकर अपना आत्मप्रकाश कर रहा है। प्रातिभ ज्ञान के परम चरम शिखर पर आरूढ़ होकर उन महामनीषी ने अध्यात्मतत्त्व के मूलभूत क्रमात्मक विज्ञान का जो विहंगावलोकन किया था, वही उनकी प्रोज्ज्वल समन्वयात्मक प्रज्ञा के स्पर्श से परिमार्जित होकर, विभिन्नता में भी एकता का प्रतिफलन कराता हुआ, पश्यन्ति भूमि से वैखरी तक के अवरोहण क्रम में उतरते हुये भी परमेश्वर के 'परमरस' की रसमयता को अक्षुण्ण रखता हुआ वाङ्मयी मूर्ति धारण कर हमारे समक्ष प्रकट हो रहा है।

ज्ञान अनन्त है, तत्जनित अनुभूति का क्षेत्र भी अनन्त है। अनुभूति को भाषा दे सकना अत्यन्त दुर्घट कार्य है। उसमें दृष्टि भेद की सत्ता प्रत्यक्ष होने लगती है, क्योंकि अनुभूति जब भाषा के स्तर में उतरती है, तब मातृकाओं की लीला के कारण अभेद में भी भेददर्शन परिस्फुट हो उठता है। ऐसी स्थिति में उसमें एक समन्वयात्मक तथा भेदहीन अर्थ प्रकट कर सकना सबके लिये शक्य नहीं रह जाता। परन्तु शास्त्ररसिक प्रत्यक्ष ज्ञान सम्पन्न मनीषी परस्परत: विरोधी तथा विच्छिन्नता और तर्कजनित पार्थक्य का आभास देने वाली मतमतान्तर की स्थिति में भी अपनी दृष्टिभंगी से समन्वय के स्वर्णसूत्र का सन्धान प्राप्त कर ही लेते हैं। जिनकी दृष्टि प्रत्यक्ष ज्ञान रहित है, अत: भेदात्मक है, उन्हें ही विभिन्न पथ में विभेद, मतवाद तथा अनेकत्व की प्रतीति होती है। क्योंकि जहाँ तक मन की सत्ता है, वहीं तक भेददर्शन तथा विभिन्नता है। ''नैको ऋषिर्यस्य वच: प्रमाणं''। परन्तु मन से उत्तीर्ण होते ही समस्त भेदादिक अगाध अपार परमात्म समुद्र में प्रविलीन हो जाते हैं। अत: यथार्थ ज्ञानोदय और भ्रान्तिहीन समन्वयात्मक दृष्टिभंगी के उदय के लिये व्यष्टि मन की सत्ता को समष्टि मन में निमज्जित कराना ही होगा। इस विन्दु पर भ्रान्ति रहित अनुभूति तथा समन्वयात्मक अध्यात्म का उन्मेष हो सकना संभव हो सकेगा। ऐसी स्थिति प्राप्त होती है एकान्तिक समर्पित साधना द्वारा अथवा परमेश्वर के तीव्रतम शक्तिपात द्वारा, जो अहैतुक होता है। मात्र शुष्क शास्त्राध्ययन से इस स्थिति का तथा समन्वयात्मक दृष्टिकोण का विकास कर सकना नितान्त असंभव सा है। समष्टि मन

की प्राप्ति के साथ-साथ शास्त्र कृपा का वर्षन होने लगता है। समस्त शास्त्र हस्तामलकवत् हो जाते हैं। जो शास्त्र लुप्त हो चुके हैं, जो वर्त्तमान में विद्यमान हैं तथा जिन शास्त्रों का उद्‌भव सुदूरवर्ती भविष्यत् में होने वाला है, वे सभी ऐसी स्थिति में नित्यवर्त्तमान भूमि में आविर्भूत हो उठते हैं। अत: महापुरुष महामनीषी की वाणी देश, काल, मतवाद, पंथ, धर्म आदि की सीमा में आबद्ध नहीं रहती। वह उन्मुक्त महासागर के समान असीम तथा सार्वजनीन हो जाती है।

'प्रज्ञान तथा क्रमपथ' ऐसा ही उपक्रम है, जहाँ 'कागज की लेखी' के लिये कोई स्थान ही नहीं है। यहाँ 'आँखिन की देखी' का लेखा-जोखा अंकित है। अन्तर्दृष्टि का उन्मीलन हो जाने पर सृष्टि के अन्तर्भूत तथा उससे परे के सबकुछ का, अज्ञात एवं 'गहन गंभीर' का भी साक्षात्कार हो जाता है। यही है वह प्रत्यक्ष ज्ञान जिसमें हृदय की संशय भरी कुटिल ग्रंथि की परिणति हो जाती है जिज्ञासा भरी सरलता में और श्रद्धा-विश्वास का सम्बल मिल जाने से 'स्वान्तस्थ' ईश्वर के मंदिर का द्वार स्वयमेव उन्मुक्त हो उठता है।

इस 'गागर में सागर भरे' क्षुद्र कलेवर परन्तु महनीय ग्रंथ के प्रकाशन का गौरव 'विश्वविद्यालय प्रकाशन' को प्राप्त हुआ है, जिसके संचालक श्री पुरुषोत्तमदास मोदी जी ने इस कार्य को परमशिव की सेवा समझ कर अत्यन्त कौशल तथा रुचि के साथ सम्पन्न किया है। एतदर्थ उन्हें सादर धन्यवाद देता हूँ।

कृष्ण जन्माष्टमी संवत् २०५७ वि० **एस० एन० खण्डेलवाल**

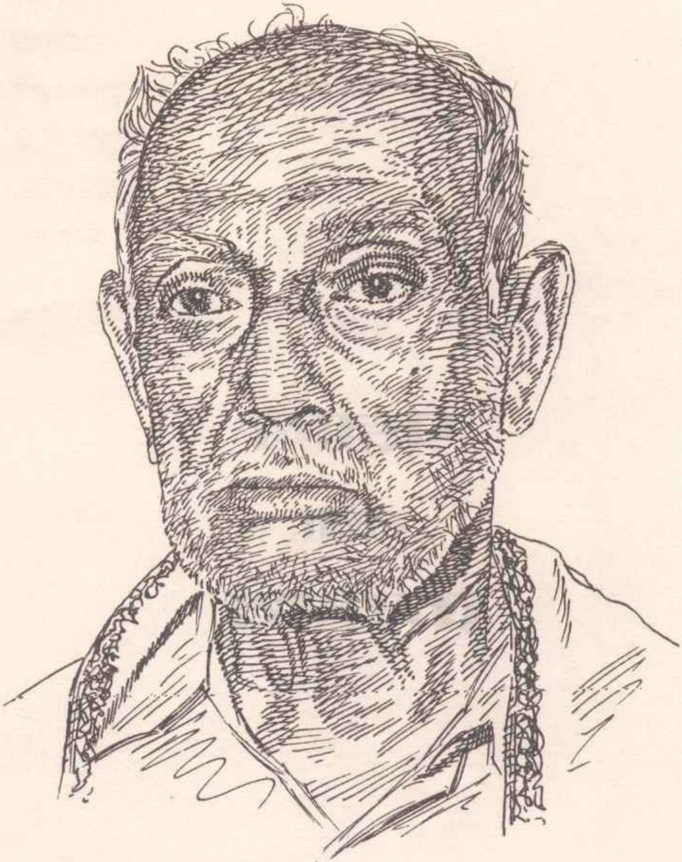
बी० ३१/३२ लंका, वाराणसी

विषयानुक्रमणिका

प्रज्ञान

तथा

क्रमपथ



म० म० पं० गोपीनाथ कविराज

दृष्टि

उभय चक्षुओं की दृष्टि एक बिन्दु पर मिल जाती है। अर्थात् जब उभय चक्षु की दृष्टि समान रूप से मिल जाती है, तभी सामरस्य का आविर्भाव होता है। इस मिलन में शून्य आविर्भूत हो उठता है। इस शून्य को अभाव का शून्य नहीं कहा जा सकता। इस शून्य में सब कुछ विद्यमान है। इसका आश्रय लेकर स्वरूपसत्ता पर्यन्त उर्ध्वारोहण किया जा सकता है। यही क्रीड़ा श्वास-प्रश्वास में चलती है, अर्थात् श्वास-प्रश्वास की क्रिया सामान्य होते ही कुंभक का आविर्भाव होता है। सुषुम्ना नाड़ी के शून्य से उर्ध्वपथ पर संचरण होने लगता है। अन्तर्दृष्टि एक ही दृष्टि का अन्य आयाम है। बहिर्दृष्टि को खण्ड दृष्टि कहते हैं। अन्तर्दृष्टि ही व्यापक दृष्टि है। वह विश्वात्मिका है। अन्तर्दृष्टि की प्राप्ति के अनन्तर जड़ एवं अध्यात्म की पृथकता समाप्त हो जाती है। अन्तर्दृष्टि ही तृतीय नेत्र है। हम अपने चक्षुद्वय द्वारा खण्ड भाव का ही साक्षात्कार कर सकते हैं, अखण्ड भाव के लिये अन्तर्दृष्टि रूप तृतीय नेत्र का ही उन्मीलन आवश्यक है। तृतीय नेत्र के प्रकाश में भूत-भविष्य-वर्तमान का सरल दृश्य के रूप में अनुभव होने लगता है। हमारे चक्षुद्वय की दृष्टि वक्राकार होती है, इसी कारण खण्ड रूप ही प्रतिभात होता है। वक्राकार दृष्टि का सरलीकरण ही तृतीय नेत्र की सत्ता का आविर्भाव करता है। चक्षुद्वय से जो दर्शन किया जाता है, वह है संस्कारज दर्शन। तृतीय नेत्र का दर्शन संस्कारज दर्शन नहीं है, वह है यथार्थ एवं प्रकृत दर्शन। इस दर्शन द्वारा तत्त्व के यथार्थ स्वरूप 'शक्ति युक्तता' का साक्षात्कार मिलता है।

✤

हृदय एवं महायोग

भागवत में भगवत् प्रेम का वर्णन है। भागवत में काल राज्य के अन्तर्गत भगवत् प्रेम का विकास परिलक्षित होता है। यह होता है योगमाया के अन्तराल में। यह क्षण के अन्तर्गत भी हो सकता है। वास्तव में जहाँ क्षण में क्रम का आविर्भाव नहीं है, वह क्रमरहित क्षण काल राज्य से परे है। वहाँ भी भगवत् प्रेम परिव्याप्त रहता है। सभी काल से त्राण पाने की कामना करते रहते हैं। ईश्वर ही नियम है (God is Law) तथा ईश्वर ही प्रेम भी है (God is Love)। काल राज्यान्तर्गत ईश्वर नियमबद्धता स्वरूप है। सब कुछ उसके कानून के अनुसार चलता है। कारण, कालराज्य का वह नियन्ता है। शासक है। कालराज्य के अन्तर्गत उसका यही नियामक रूप परिलक्षित होता है। परन्तु ईश्वर ही शुद्ध प्रेम भी है। जहाँ वह शुद्ध प्रेम रूप है, वहाँ नियम (Law) की कोई सत्ता ही नहीं रहती। नियम की सत्ता रहती है देशकाल में। प्रेम की जागृति होने पर देश और काल का अस्तित्व ही नहीं रहता। अत: भगवत् प्रेम अत्यन्त अद्‌भुत स्थिति रूप है। साधारण मनुष्य को इसके कणमात्र का भी ज्ञान नहीं हो सकता।

योगसूत्र में वर्णित है कि मात्र एक क्षण में समस्त विश्व परिणाम का उदय होता है।

''एकस्मिन् क्षणे सर्वं जगत् परिणाममनुभवति।''

इस एक क्षण की सत्ता कहाँ है? जहाँ काल नि:शेष हो जाता है, जिस महासत्ता से काल का उदय होता है—वही क्षण है। अभी वह क्षण कहां विराजित है? वह विराजित है हृदय में। वास्तव में यह अत्यन्त रहस्यमय तत्त्व है। सामान्यत: पुराणों में तथा श्रीमद्‌भागवत में जिस भगवत् प्रेम का वर्णन किया गया है, वह अन्य प्रकार का तत्त्व है। यहाँ जिस भगवत् प्रेम का वर्णन किया जा रहा है, वह अत्यन्त रहस्यावृत तथा परमतत्त्व रूप है। वह है हृदय। हृदय ही क्षण है। हृदय में समस्त देश एवं काल की परिसमाप्ति हो जाती है। देश-काल की परिसमाप्ति हो जाने पर भी यह निर्गुण रूप नहीं कहा जा सकता। कारण निर्गुण होने पर भी निष्कल नहीं है। अथच सगुण शेष हो गया है, इसी स्थल को, तत्त्व को हृदय कहते हैं। इस स्थान का संधान मिलना आवश्यक है। जहाँ दो विन्दु एक हो गये हैं, वही हृदय है। प्रथम विन्दु है मूलाधार के निम्न देश में स्थित रक्तवर्ण सहस्रदल कमल, दूसरा है उर्ध्व सहस्रदल श्वेत कमल। तात्पर्य यह है कि इन उर्ध्व एवं अध:स्थित सहस्रदल कमलों के मध्य स्थित विन्दुद्वय का आकर्षण करते हुए इन दोनों विन्दुओं का एकत्रीकरण करना होगा। कामराज्य के भेदन के द्वारा इनका मिलन स्थल ही हृदय है। इन दोनों विन्दुओं के मिलन क्षण में अखण्ड महाप्रकाश का साक्षात्कार प्राप्त होता है। इसका साक्षात्कार साकार महाप्रकाश रूप में होता है। सच्चिदानन्द में सत्, चित् तथा आनन्द रूप से (समसूत्रवत्) जो तत्त्व विद्यमान है, वहीं यह महाप्रकाश है। यह आविर्भूत होता है

हृदय में। यही लीला मंच भी है। यहाँ अनन्त शक्ति की क्रीड़ा चलती रहती है। पृथ्वी पर इसका प्रतीक रूप है श्री श्री विशुद्धानन्द परमहंस देव द्वारा स्थापित नवमुण्डी आसन। वास्तव में नवमुण्डी आसन शक्ति की प्रारम्भिक अवस्था का प्रतीक है। शक्ति की विकसित अवस्था है उमाशक्ति, और कुमारी शक्ति सर्वोच्च अवस्था के रूप में मान्य है। नवमुण्डी एक प्रकार से आकर्षण शक्ति ही है, जो जीव को उर्ध्वाकर्षित करती है। महाशक्ति के अनन्त रूपों में नवमुण्डी प्राथमिक शक्ति है। सर्वोच्च शक्ति है कुमारी शक्ति। इनके मिलन से महाप्रकाश का आविर्भाव होता है। तदनन्तर इस मिलन का प्रभाव आधार रूप निम्न विन्दु (नवमुण्डी) पर्यन्त संचारित हो जाता है। यही सत्, चित् तथा आनन्द का संचरण भी कहा जा सकता है। जैसे जल, वाष्प तथा हिम (बरफ) एक ही तत्त्व है, तथापि अवस्था भेद से पार्थक्य दृष्टिगोचर होता है, उसी प्रकार सच्चिदानन्द में भी अवस्था भेद के कारण सत्, चित् और आनन्दरस रूप स्थिति त्रय का अनुभव होता है।

विषय को और स्पष्ट रूप से विवेचित किया जाता है। सत् अवस्था अव्यक्तावस्था है। इसमें सब कुछ परमेश्वर के अन्तर्गत प्रविलीन सा रहता है। सद्अवस्था में किंचिन्मात्र भी स्फुरण की सत्ता नहीं रहती। चित् अवस्था से स्फुरता का प्रारम्भ होने लगता है। तदनन्तर आनन्द की सत्ता साक्षात्कृत होती है। आनन्दावस्था से नित्य लीला प्रकाशित होती है। नित्य लीला में सत्, चित् तथा आनन्द। इन तीनों का अस्तित्व रहता है। इसका अधिकार प्रत्येक जीव को है। प्रत्येक जीव सत्, चित् आनन्द का येनकेन प्रकारेण, अल्पाधिक मात्रा में आस्वादन करता रहता है। इस नित्य लीला का सर्वप्रधान गुण है अमरत्व, तथापि अभी तक जगत् में अमरत्व का अवतरण नहीं हो सका है। अमरत्व की सत्ता एकमात्र महाभाव में विद्यमान है। अखण्ड महाकाल राज्य में एक समय अमरत्व का अवतरण अवश्य होगा। उस स्थिति में मृत्यु की सत्ता ही नहीं रहेगी। ऐसे जीवों का आविर्भाव होगा, जो मृत्यु से असम्पृक्त रहेंगे।

इस तत्त्व का आधार उपनिषदों में विद्यमान है। उपनिषदों में इस मान्यता का बीज रूप परिलक्षित होता है। 'श्रृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः।' यहाँ अमरत्व प्राप्त विश्व व्याप्त जीव समूह को सम्बोधित किया गया है। ऋषि कहते हैं "समस्त अमृत पुत्रों सुनो, उन एक पुरुष को मैंने जाना है, उन्हें देखा है, वे आदित्य वर्ण हैं; (अनन्त कोटि सूर्यों को एकत्र करने पर जैसा प्रकाश होता है, वही आदित्यवर्णता है) इस पार घोर अन्धकार व्याप्त है, वहाँ है कोटि-कोटि सूर्यों का महाप्रकाश! यहाँ जिस एक पुरुष का वर्णन है, वही अनन्त अन्धकार का भेदन करता है। मनुसंहिता में उक्त है 'आसीदिदे तमोभूतं अप्रज्ञातं अलक्षणं।' सर्वत्र तमः की विद्यमानता है। इस तमः को ही आधार बनाकर महाप्रलय तथा सृष्टि की क्रीड़ा चलती है। तमः के परपार जो सूर्य विद्यमान है वह अनन्त कोटि-कोटि सूर्य की सत्ता से सत्तान्वित है। उसे ही 'एक पुरुष' कहा गया है, जिसे जानने के पश्चात् मृत्यु का प्रभाव निःशेष हो जाता है। उस

एक पुरुष को जानने के लिये अन्य कोई पथ है ही नहीं। यही अतिमृत्यु अवस्था है। इसका जगत् में प्रकाश होगा। इस समय यह स्थिति गुप्तावस्था में विद्यमान है। ऋषियों ने इस स्थिति का वर्णन किया है, परन्तु अभी तक कालपूर्ण न होने के कारण इसे कार्य रूप में परिणत नहीं किया जा सका। यह अतिमृत्यु अवस्था समस्त सृष्टि में व्याप्त होगी। यह है सर्वसामान्य की मुक्ति। सभी सच्चिदानन्द का पूर्ण आस्वादन करें, ऐसी अवस्था। इस अतिमृत्यु अवस्था के अनन्तर जिस अवस्था का प्रकाशन होगा, वह है महाप्रकाशावस्था। यही है "अखण्ड महायोग!"

अतिमृत्यु सत्ता रूप 'एक पुरुष' की प्राप्ति के अनन्तर प्रकाश की प्राप्ति होना ध्रुव निश्चित है। इस प्रकाश में कोई स्पन्दन नहीं रहता। यह प्रकाश कब प्राप्त होगा? यह प्रकाश अवतरित होगा एक क्षण में। एक क्षण में, स्थिर क्षण में इस महातत्त्व का अवतरण होगा। संभवतः यही महानिशा क्षण होगा। इस तत्त्व के आगमन से सभी प्रकाशमय तथा प्रकाशात्मा हो सकेंगे। सभी इस काल जगत् में रहते हुए भी उस तत्त्व से ओतप्रोत हो सकेंगे। जो जैसा है, वैसा ही रहेगा। जैसे हाथ, पैर, आँख, नाक युक्त प्रतिभात होते हैं, वैसे ही प्रतिभात होते रहेंगे, तथापि सब कुछ प्रकाश से ओतप्रोत रूप में प्रकाशात्मा रूप में स्थित रहेंगे। यह महाप्रकाश से निःश्रृत सृष्टि कही जा सकती है। यह महाकार्य होगा व्यष्टि एवं समष्टि को आधार बनाकर। व्यष्टि एवं समष्टि के अतिरिक्त भी एक दिव्य आयाम का अनुभव होता है। व्यष्टि समष्टि के समान नहीं होता। अर्थात समष्टि में वह महाप्रकाश व्याप्त है तथापि व्यष्टि रूप में प्रत्येक मनुष्य उसे प्राप्त करेगा, तथापि कोई आज प्राप्त करेगा, कोई कल, कोई दश हजार वर्ष पश्चात् कोई पांच सौ वर्ष पश्चात्। सभी प्राप्त करेंगे परन्तु समान रूप से नहीं।

महायोग में तथा सामान्य प्राप्ति में यही व्यष्टिगत पार्थक्य है। सामान्य प्राप्ति काल सापेक्ष है, व्यष्टिगत प्राप्ति है। वही तारतम्य तथा मात्रागत भेद है, परन्तु महायोग की प्राप्ति अन्य प्रकार की है। महायोग की धारा के अनुसार इस काल राज्य में यदि किसी को उस महाप्रकाश का आभास मिलता है तब प्राणों की व्याकुलता के मध्य, अनन्त दूरत्व विद्यमान रहने पर भी, उसमें क्षणमात्र में इसका आविर्भाव हो सकता है। इसमें कोई नियमबद्धता नहीं है। मात्र प्राणभरी व्याकुलता ही नियम है। अतः व्यष्टि रूप में तथा समष्टि रूप में जीव समूह इसकी प्राप्ति करेगा। निम्नस्थ जीव से लेकर उर्ध्वस्तरीय जीव समूह पर्यन्त इस महाप्रकाश की व्याप्ति एवं प्राप्ति होगी। सर्वस्तरीय मानव एवं दिव्य सत्ता इसको प्राप्त करेगी जहाँ यह प्रकाशित होगा, वहाँ बाह्यकालगत किसी भी क्रिया का अस्तित्व नहीं होगा। कालगत क्रिया का और स्पष्ट विश्लेषण करना आवश्यक है। काशी में एक बंगाली महात्मा अगस्त्यकुण्ड में रहते थे। एख बार वे माउन्ट आबू गये। वहाँ एक गुफा में उन्हें एक महापुरुष का दर्शन हुआ। यह महापुरुष सर्वदा समाधिस्थ अवस्था में आसीन रहते थे, अतः उनसे किसी भी प्रकार की कथावार्ता नहीं हो सकी। एक दिन समाधि से जगने पर, उन्होंने एक माला बंगाली महात्मा के गले में पहनायी और पुनरेव समाधिस्थ हो गये। २-३

मास व्यतीत हो जाने पर भी वह माला शुष्क नहीं हो सकी। इसका कारण यह था कि समाधि की अवस्था में काल क्रिया स्तब्ध हो जाती है। काल का गुण है परिवर्तन अथवा परिणाम। जिस अवस्था में कालक्रिया नहीं है, वह काल के आवर्त्त से बाहर की स्थिति है अत: उस अवस्था से ओत-प्रोत सिद्ध द्वारा प्रदत्त माला के पुष्पों पर काल की परिवर्तनशीलता अथवा परिणाम गुण का प्रभाव कैसे हो सकता है? यही कारण है कि श्रीकृष्ण के गले में पड़ी वनमाला कभी म्लान नहीं होती और उनका स्वरूप कभी भी वार्द्धक्यादि से अभिभूत नहीं होता, क्योंकि वे काल आवर्त्त से परे हैं। काल का प्रभाव काल राज्य से उत्तीर्ण होने पर हो ही नहीं सकता। कालराज्य की परिणामिनी गति का अस्त हो जाता है। यह अधिकार सबको है परन्तु अधिकार में कौन कब अग्रसर हो जाता है, इसे कहा नहीं जा सकता। महाप्रकाश की धारणा की योग्यता आते ही कालस्पर्श समाप्त हो जाता है। कालजगत में जो क्रिया होती है वह क्रिया उसके शरीर में नहीं होती। तभी महाप्रकाश की प्राप्ति होती है। महाप्रकाश प्राप्ति में भी दो अवस्थाओं का उदय होता है। प्रथम है साकार से लीलाधिकार, द्वितीय है लीलाधिकार से आनन्दाधिकार। आनन्द राज्य में पदार्पण के लिए नित्यलीला प्रवेश आवश्यक है।

मूलाधार के नीचे शाक्त सहस्रार की सत्ता है। उर्ध्व सहस्रदल कमल के ऊपर विन्दु की सत्ता है। इस प्रकार के सहस्रारद्वय का वर्णन प्राप्त होता है। साधारण षटचक् भेदन करने वाले साधकों को शाक्त सहस्रार का संधान नहीं मिलता। वास्तव में दोनों सहस्रारों के केन्द्र में एक-एक विन्दु विद्यमान है। दोनों विन्दु कालराज्य से बाहर हैं। इनमें जो शक्ति चलती है इनके अन्दर से उन्मिषित होती है। कालराज्य में जितने प्रकार के Current हैं, स्पन्दन हैं सभी, इसी के अभ्यन्तर से चलते हैं। ऊपर का विन्दु नीचे आकर तथा नीचे का विन्दु ऊपर जाकर हृदय में मिलता है। जहाँ इन दोनों विन्दुओं का मिलन होता है, वह हृदय ही लीला मंच है। इस लीला मंच पर अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड नियोजित किये जा सकते हैं। यह लीला मंच देशकाल (Time & Space) से परे है। यह लीला मंच कमल रूप है। नित्यलीला के प्रवेशाधिकारी स्वीय योग्यता तथा अधिकार भेद से कमलदलों में आसीन होते हैं। शरीरस्थ सभी विन्दु में कालराज्य का व्यापार चलता रहता है। जब उर्ध्व एवं अध: विन्दुओं का मिलन होता है तब उनका रूप निम्नांकित प्रकार से हो जाता है—

':' अर्थात् अ:

यही विसर्ग है। विसर्ग में भी एक अध: विन्दु तथा दूसरा उर्ध्व विन्दु है। इन दोनों का एकीकरण ही अनुस्वार 'अं' है। यह स्थिति हृदय में ही होती है। मिलन के अनन्तर देश (Space) की भी सत्ता विलीन हो जाती है। अनन्त जगत् हृदय में स्फुरित हो जाता है। यह कालराज्यान्तर्गत स्थिति नहीं है। सामान्यत: कालराज्य का अवसान होने पर निष्क्रिय, निर्गुण चैतन्य स्वरूप का उदय होता है, परन्तु महाप्रकाश के

आविर्भाव के अनन्तर सगुण रूप लीला मंच का प्रस्फुटन होता है। यही है महाविन्दु। इसमें उर्ध्व विन्दु तथा अध: विन्दु दोनों का समावेश है। यद्यपि इस अवस्था में देश रूप Space की सत्ता नहीं है तथापि अनन्त देश Hyper Space विद्यमान है। यही लीला मंच का वैचित्र्य है। इस संदर्भ में सभी शास्त्र तथा महाजनगण मौनावलम्बन करते हैं। कारण यह क्रीड़ा सामान्य जन के लिये बोधगम्य नहीं है। इसकी प्राप्ति श्री श्री विशुद्धानन्द परमहंसदेव को ज्ञानगंज परम्परा से हो सकी थी। इस परम्परा के व्यतिरिक्त अन्य के लिये यह अत्यन्त दुष्कर हैं। इसके वैचित्र्य का ज्ञान करने के लिये यह अभिज्ञता आवश्यक है कि अनेकानेक महापुरुषों ने नित्यावस्था की प्राप्ति की है, अथच वे कालराज्य में नहीं आते। अनेक नित्यसिद्ध अमरत्व प्राप्त महापुरुषों का भी अस्तित्व है तथापि उनका कालराज्य से कोई सम्बन्ध नहीं है। इन्हें भी इस महाज्ञान के कणिका मात्र का भी अनुभव प्राप्त नहीं है। इन्हें भी क्रमिक रूप से इस महान् ज्ञान रूप वस्तु की प्राप्ति होकर रहेगी।

निराकार तो निराकार रूप ही है। वहाँ लीला का अस्तित्व नहीं रहता। जहाँ काल राज्य है, वहाँ मात्र काल की ही क्रीड़ा चलती रहती है, तथापि कालराज्य में महायोग का अंश प्रकाशित होते ही उस अखण्ड महायोग के प्रभाव से सब परिवर्तन होता रहता है। यह परिवर्तन आभ्यन्तरीण व्यापार है। कारण यह है कि हृदय का योग नित्यधाम से रहता है। बाह्य जगत् से हृदय का कोई योग नहीं रहता। यह हृदय उन्हीं में विकसित होता है जो लीला के अधिकारी हैं। जिसने एक बार प्राप्त कर लिया उसे और कुछ भी बताना नहीं पड़ता। क्षण मात्र में वह सब कुछ जान लेता है, सब कुछ प्राप्त कर लेता है।

✤

आकर्षण

साक्षात्कार क्रम में यह स्तर प्रस्फुरित होते हैं—परमात्मा—आत्मा—इन्द्रिय—विजय।

परमात्मा का अंश है आत्मा। अणुरूप ही आत्मा है। अनादि काल से परमात्मा आत्मा का विकर्षण करते रहते हैं। अत: आत्मा ही अणु है। विकर्षण के ही कारण परमात्मा से पृथकता रूप अणुभाव का उदय होता है। यह विकर्षण ही प्रयोज्य है, क्योंकि इसी के अनन्तर आकर्षण का उदय होता है। विकर्षण के अभाव में जो स्थिति रहती है, वह है स्वरूप स्थिति तथापि बोधहीन। इस बोधहीन अवस्था का निग्रह करने के कारण अनुग्रह का उदय होता है। अणुभाव आते ही मन का उदय होता है। पहले मन नहीं था, अब मन की सत्ता हो गयी। यही बहिर्मुखता है। मन ही बहिर्मुख बनाता है। आत्मा का विकर्षण ही मन है। मन का विकर्षण है इन्द्रिय। साथ-साथ देह का उदय होता है। पहले मन नहीं था, अब मन की सत्ता हो गयी। यही बहिर्मुखता है। मन ही बहिर्मुख बनाता है। आत्मा का विकर्षण ही मन है। मन का विकर्षण है इन्द्रिय। साथ-साथ देह का उदय होता है। इन्द्रियाँ भी बहिर्मुख हैं। वे अपने-अपने विषय की ओर भागती हैं। अत: विषय ज्ञान तथा विषय स्वाद का उदय होता है। पहले जो बाह्यता सत्तामात्र थी, वह अब रूप रसादि का आकार धारण कर लेती है। यही स्थूल जगत् है। बाहर जो सत्ता थी, वह भी परमात्मा ही है।

उसके दो सिरे हैं। एक सिरे से आकर्षण करता है। दूसरे से विकर्षण। यह क्रिया साथ ही साथ होती रहती है। विषय अथवा स्थूल का भोग पूर्ण हो जाने पर तृप्ति का उदय होने लगता है। तब भोग रूप विषयों में रूचि नहीं होती। अब यह जान लेना चाहिये कि वे अब विकर्षण नहीं कर रहे हैं। विषय भी नहीं खींच रहे हैं। फल है, वैराग्य, निर्वेद इत्यादि! अब वे अपनी ओर खींच रहे हैं। अब आभ्यान्तिरिक आकर्षण बढ़ता जाता है। इन्द्रियाँ अन्तर्मुख होती हैं आत्मा अन्तर्मुख होती है। इस आकर्षण की भी मात्रा है। मन्द, मध्य तथा तीव्र रूप। इसी प्रकार विकर्षण की भी मात्रा है। मन्द से तीव्रावस्था में पड़ने के लिये मध्य से ही होकर जाना होगा। कभी-कभी अनुभूत रूप से बिना मध्याश्रय लिये तीव्रावस्था में स्थित हो जाती है।

इन्द्रियों की प्राथमिक अन्तर्मुखावस्था में कर्म से योग होता है। पूर्ण अन्तर्मुखता में कर्म का अस्तित्व नहीं रहता। आत्मा की अन्तर्मुखता ही भक्तियोग है। पूर्ण अन्तर्मुखता का नाम है प्रेम योग। यह भक्ति से उच्चतर स्थिति है। बहिर्मुखतावस्था में मन इन्द्रियों का स्पर्श करता है। अन्तर्मुखता में इन्द्रियाँ मन का स्पर्श करती हैं। अब इन्द्रियाँ शक्तियुक्त हो देवी पदवाच्य हो जाती हैं। मन ही मूल शक्ति है। मन का जागरण होता है शक्ति रूप में। यह शक्ति रूप मन आत्मा का स्पर्श करता है। फल है ज्ञान का विकास। आत्मा ही ज्ञान स्वरूप है। अब आत्मा परमात्मस्वरूपावस्था की

ओर अग्रसर होने लगता है। फलतः आत्मा परमात्मा का स्पर्श करता है। आत्मा परमात्मा की ओर अभिमुख है—यही है भक्ति। क्रमशः अन्तर्गति की मध्यावस्था में परमात्मा के साथ योग हो जाता है।

सर्वत्र मध्यावस्था स्थित रहती है। इन्द्रियाँ मन का स्पर्श करती हैं। मध्यावस्था है शक्ति स्थिति। तीव्रावस्था में ज्ञानोन्मेष होता है। अब मन आत्मा का स्पर्श करता है। इसकी मध्यावस्था में स्थिति है ज्ञानस्वरूप में स्थिति। स्थिति की अवस्था में अन्तर्मुखता अथवा बहिर्मुखता नहीं रहती। इसे साम्यावस्था कहते हैं। आत्मा के परमात्म योग की तीव्रावस्था में क्या होता है? मध्य योगावस्था में आत्मा और परमात्मा युक्त हैं। तीव्रावस्था में दोनों में रमण होता है। अब योगावस्था (युक्तावस्था) अदृश्य रूप 'एक' में विकसित होती है। यही है स्वयं भगवान। आकर्षण-विकर्षण की यही क्रीड़ा श्वास-प्रश्वास में चालित रहती है। इसी आकर्षण तथा विकर्षण का प्रभाव अग्नि तथा सोम की प्रक्रिया में भी चलता रहता है। रात्रि तथा दिवा में भी यही आकर्षण विकर्षणात्मक क्रीड़ा विद्यमान है। किंबहुना सृष्टि तथा लय, अन्धकार एवं प्रकाश, आविर्भाव तथा तिरोधान के मध्य भी यही लीला चलती रहती है।

इस प्रसंग में नवमुण्डी महाशक्ति की चर्चा की गयी है जो काशी में मलदहिया स्थित विशुद्धानन्द आश्रम में श्री श्री विशुद्धानन्द परमहंस देव द्वारा प्रतिष्ठित है। नवमुण्डी महाशक्ति काल राज्य में होते हुए भी नहीं है। जब काल कालातीतावस्था में आरोहण करता है तब वही नवमुण्डी है। कालातीत का तात्पर्य है हृदय। सरल गति ही श्रेष्ठ स्थान कहा गया है : हृदय में सरल गति कार्यरत रहती है। वह अव्यक्त है। भगवान के अव्यक्त स्थान में यातायात करने के लिये नवमुण्डी के माध्यम से जाना होगा। तभी प्रकृत हृदय प्रवेश होगा। साधारणतः जीव जगत् में जो कुछ भी है, उसे नवमुण्डी का आश्रय लेकर प्राप्त किया जा सकता है। नवमुण्डी तत्त्व को हृदयंगम करने के लिये सरल रेखा तथा वक्र रेखा का ज्ञान आवश्यक है। साथ में अनुरेखा का ज्ञान ज्ञानगंज से प्राप्त करना होगा। अनुरेखा का ज्ञान ज्ञानगंज की कृपा के अभाव में प्राप्त नहीं हो सकता। षट्चक्राभ्यन्तर में तीन उर्ध्व विन्दुओं की स्थिति विद्यमान रहती है। ये तीन विन्दु क्रमशः सहस्रदल कमल, मस्तक तथा कण्ठदेश में विद्यमान हैं। पुनः हृदय से नाभि पर्यन्त भी तीन विन्दुओं की सत्ता अनुभूत होती है। इनमें क्रमशः ऊपर तथा नीचे के एक-एक विन्दु अधोमुखी एवं उर्ध्वमुखी हैं। मध्य का एक विन्दु न तो उर्ध्वमुखी है न अधोमुखी। यह एक प्रकार से उर्ध्वमुखी एवं अधोमुखी का मिलित रूप है। इसमें स्थिति प्राप्त होने पर एक विराट ज्योति का आविर्भाव होता है, जिसकी तुलना में कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड भी तुच्छ से प्रतीत होते हैं। यही स्थिति ही हृदयरूपा है। उपनिषदों में इसे दहराकाश भी कहा जाता है। भू, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः तथा सत्य रूप सभी लोक समूह बाह्यतया विभाजित हैं। अन्तरिक्ष रूपी मध्यलोक भी अन्तः सत्ता रूप नहीं है। बाह्य सत्तारूप सब कुछ में काल विराजित रहता है। यहाँ तक मृत्यु तथा काल से अतीत की स्थिति है। बाह्य सत्ता वक्रगति से आच्छन्न है। भगवान की लीला में रहने

पर भी मृत्यु से त्राण नहीं है। ब्रह्मलोक सर्वाति उच्च बाह्यलोक है। वहाँ की स्थिति अत्यन्त दीर्घस्थायी होती है। तथापि उसका भी अन्त ब्रह्मा के अवसान के साथ हो जाता है। वहाँ तक वक्र गति की व्यापकता अनुभूत होती है। सरल गति की प्राप्ति होने पर चतुर्दिक वक्र गति की विद्यमानता घेरा रूप में रहती है वही नवमुण्डी है। विशुद्धानन्द आश्रम के बाह्य प्रदेश में प्रदर्शनार्थ नवमुण्डी स्थापित है। केन्द्र स्थल पर कुमारी अथवा गुरु की स्थिति प्रदर्शित की जाती है। यही केन्द्र ही हृदय है। नवमुण्डी काल एवं कालातीत की सीमा है। अर्थात् जहाँ काल और कालातीत की सन्धि है, वही नवमुण्डी है। अत: जगत् के जीव नवमुण्डी का आश्रय लेते हैं। इस कालराज्य में रहते हुये काल के बाहर आश्रय प्राप्त करने में समर्थ हो जाते हैं।

अव्यक्त को व्यक्त करने का कौशल जानना आवश्यक है। क्रिया विशेष का आश्रय लेने से अव्यक्त भी व्यक्त हो उठता है। अव्यक्तता सापेक्ष है। उदाहरणार्थ हम जिस स्तर में हैं, उस स्तर से देखने पर जो अव्यक्त प्रतीत होता है अन्य स्तर में उन्नीत होने पर वह अव्यक्त नहीं रह जाता। अत: अव्यक्तता वास्तविक रूप से एक प्रकार की नहीं होती। प्रकृत सत्य यह है कि न तो कुछ अव्यक्त है, न व्यक्त। अधिकारी भेद से अव्यक्तता तथा व्यक्तता का भिन्न-भिन्न अनुभव होता है। क्रिया का तात्पर्य है योग क्रिया। सम्यक् योग क्रिया का आश्रय लेने से क्रमश: सब कुछ व्यक्त होने लगता है।

प्रश्न उत्थित होता है "क्या महाप्रकाश के अवतरण के अनन्तर जगत की यही अवस्था होगी?" महाप्रकाश के अवतरण के पश्चात सब कुछ रहेगा। विविधता न रहने पर आनन्द कैसे होगा? काल जगत् भी रहेगा। कालातीत शुद्धावस्था भी विद्यमान रहेगी। विचित्रता यह रहेगी कि काल की गति का शमन होगा और प्रकृत सत्य की गति प्रकाशित होगी। आज तक इसका रहस्य भेदन नहीं हुआ था। प्रकृत सत्य है। आभ्यन्तर का गुप्त रहस्य, भगवान का प्रेम कुंज, भगवान की प्रेमलीला का प्रकाशन। यह प्रेमलीला भागवत में वर्णित रासलीला नहीं है। रासलीला तो योगमाया के अन्तर्गत होती है। प्रेमलीला का सन्धान भी योगमाया स्तर से नहीं मिलता। भागवत की लीला योगमाया द्वारा मायिक स्तर से रची गयी है। प्रेमलीला का प्रकाशन चारों युगों में भी नहीं हो सका है। यह गुप्त है। कारण अभी इसका समय नहीं हुआ है। इसका किंचित इंगित महाप्रभु जगद्बन्धु को प्राप्त हुआ था। तत्धिक प्रकाश पाण्डिचेरी आश्रम की माँ को प्राप्त हो सका था। वे इस प्रकाश का पूर्ण आभास प्राप्त करने के पूर्व ही देहमुक्त हो गई। यह स्थिति अपूर्ण ही रह गयी। इसी कारण माँ का शरीर अरविन्द के शरीर के पास में समाधिस्थ किया गया। शायद समाधिस्थ स्थिति में वह तत्त्व पूर्ण हो सके भक्तों की यह विचारणा रही है। अरविन्द ने जिस तत्त्व का साक्षात्कार किया था, माँ ने उसे नि:जस्व कर लिया था। माँ का व्यक्तित्व इसी कारण आश्चर्यमय था। गुरु केवल इसका पथ प्रदर्शन करा सकते हैं। इसी प्रकार काशी की सिद्धिमाता तथा उनके शिष्य प्रभात में भी अनेकांश में प्रकाश का अवतरण हो सका था, तथापि कार्य शेष रह जाने से महाप्रकाश का अवतरण प्रतीक्षित है।

यद्यपि महाप्रकाश का अवतरण प्रतीक्षित है तथापि आधार निर्माणार्थ क्षण साधना का पालन करना होगा। जिस नूतन जगत्-निर्माण का प्रसंग अखण्ड महायोग में वर्णित है, वह क्षण विज्ञान का आधार रूप है। क्षण का तात्पर्य है ठीक समय से साधना करना, ठीक समय पर साधना करने से ऊर्ध्व शक्ति प्रवाह का क्रम भी निश्चित हो जाता है। क्षण कर्म अत्यन्त प्रभावशाली क्रिया है। क्षण साधना से ही सब कुछ होता है। संधि पूजा भी क्षण में होती है। साथ में सब समय, सर्वकाल में जगत् हित की कामना करते रहना चाहिए। क्षण साधना विकल्प नहीं है। यह संकल्पित रूप है। संकल्प होता है एक उद्देश्य के लिए। उद्देश्य की सिद्धि होते ही संकल्प भी पूर्ण हो जाता है। संकल्प का तात्पर्य है कि 'मैं यह करना चाहता हूँ।' तत्पश्चात् निज चेष्टा तथा साधना द्वारा उसे कार्य में परिणत किया जाता है।

कर्म के बिना सत्वगुण विकसित नहीं होता। व्यक्तित्व रजोगुण तथा तमोगुण से आच्छन्न होने लगता है। रजोगुण तथा तमोगुण को अभिभूत करते हुए सत्वगुण का विकास करना होगा। सर्वान्त में गुणातीत होना, यह चरम उद्देश्य कहा गया है। प्रथमतः हमें सत्य संकल्प होना चाहिए। इसके लिए शक्ति का विकास होना आवश्यक है। सत्य संकल्प का उदाहरण बाईबिल में होता है 'Let there be light, there was light' उसने प्रकाश की इच्छा की और वहाँ प्रकाश का अविर्भाव होने लगा। यही सत्य संकल्पत्व है। संकल्प न रहने पर कोई कार्य ही नहीं हो सकता। संकल्प सिद्धि के साथ इच्छित वस्तु प्राप्त हो जाती है। यह व्यक्तिगत सिद्धि है। व्यापक सिद्धि इससे अतीत है। वही संकल्प करना चाहिए जिसे हम सिद्ध कर सकें। जो संकल्प हम सिद्ध न कर सकें उसे करना ही नहीं चाहिए। यदि संकल्प नहीं है तब विकल्प भी नहीं है। संकल्प के विरुद्ध विकल्प का आगमन होता है। जहाँ संकल्प ही नहीं है, वहाँ विकल्प भी नहीं है। संकल्प के विरोधी तत्त्व को विकल्प कहते हैं। एक संकल्प पूर्ण नहीं हुआ और दूसरे संकल्प की ओर आकर्षित हो गए। इससे संकल्प पूर्ति में बाधा आ जाती है। संकल्प से ही समग्र सृष्टि का आविर्भाव होता है 'धाता यथापूर्वम् अकल्पयत्।' विधाता संकल्प द्वारा सृष्टि रचते हैं।

✤

आत्मसमर्पण

यद्यपि आत्मसमर्पण अभ्यास सापेक्ष है, तथापि वास्तविक आत्मसमर्पण हठात् होता है। यह अभ्यास सापेक्ष नहीं है। आत्मसमर्पण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थिति है। आत्मसमर्पण के बिना परम तत्त्व भी प्राप्त नहीं होता। तुच्छ अहं का त्याग करने पर महान अहं की प्राप्ति होती है। आत्मज्ञानी ही आत्मसमर्पण कर सकता है। जिसे आत्मोपलब्धि नहीं है, उसका समर्पण यथार्थ समर्पण नहीं है। अथवा भक्तगण सर्वस्व समर्पण कर सकते हैं।

✤

स्वरूप दर्शन

जैसे दर्पण में अपना मुख प्रतिभात होता है, उसी प्रकार ज्योतिर्मय आत्मस्वरूप की उपलब्धि होने पर उसमें समग्र विश्व का दर्शन हो सकता है। यहीं उपलब्धि की समाप्ति नहीं है। इसके पश्चात् विश्वातीत स्थिति में आरोहण करना चाहिए। इस अवस्था में विश्व का विलीनीकरण हो जाता है। इसी प्रकार शक्ति से अतीत अवस्था उपलब्ध करनी चाहिए। प्रकाश स्वरूपता आत्मस्वरूप की चरम परिणति है। वहाँ शक्ति की भी सत्ता विलीन हो जाती है, शेष रह जाता है एकमात्र स्वरूप प्रकाश। उदाहरणार्थ यदि अन्धकाराच्छन्न कक्ष में स्वरूप दर्शन युक्त प्रकाशात्मा का आगमन होता है, उस स्थिति में ज्योति रहित अन्धकाराच्छन्न कक्ष में भी उसके प्रत्येक रोमकूप तक देखा जा सकता है। ऐसे प्रकाशात्मा को देखने के लिए सत्वगुण का भी प्रयोजन नहीं है। वहाँ प्रकाश नहीं है तथापि देखना संभव है। अत्यन्त द्योतित प्रकाश में जो देखते, उससे भी कोटि-कोटि गुणित रूप में प्रकाशात्मा को देखना संभव है। बाह्य प्रकाश न रहने पर भी बोध में बिन्दु-बिन्दु पर्यन्त को देखा जाना संभव है। यही यथार्थ प्रकरण है। प्रकाशात्मा का आलोक पूर्णिमा के चन्द्रालोक से भी कोटि गुणित-स्निग्ध होता है। यह सत्वगुण नहीं है। त्रिगुणातीत शुद्धसत्व है। यही चित्शक्ति है। माँ की अंगद्युति है। जिसे प्रकाश (अन्तः प्रकाश) कहा जाता है, वहाँ माँ की स्थिति नहीं है। वह मात्र ब्रह्म प्रकाश है।

स्वयं प्रकाश स्थिति परमाद्वैत स्थिति है। जो कुछ है वह एक ही है। द्वितीय रूप कुछ भी नहीं है वहाँ। अथच यदि देखने की इच्छा हो, उस अवस्था में, उस एक में ही सब कुछ की विद्यमानता परिलक्षित होने लगती है। दो हो जाते हैं तथापि दो नहीं है। दो अर्थात् द्रष्टा तथा दृश्य। यद्यपि पृथकता का अनुभव इच्छा मात्र से होने लगता है तथापि यह पृथकता नहीं है। जैसे वाष्प, जल एवं बर्फ। साधारण दृष्टि से इनमें पार्थक्य है। विज्ञान दृष्टि से तेज की अधिकता होने पर जल ही वाष्प है। घनीभूतता के कारण वही बर्फ है। इसी प्रकार ब्रह्म, परमात्मा तथा भगवान गुणगत तारतम्य के कारण पृथक् प्रतीत होने पर भी एक ही है।

आत्मस्वरूप से शक्ति का विकास जहाँ तक पूर्ण होता है, वहाँ तक की स्थिति प्राप्त हो जाती है। यदि साधक और अग्रसर नहीं हो सकता, तब वहीं स्थित हो जाता है। दृढ़ इच्छा सम्पन्न साधक शक्ति विकास का भी अतिक्रमण करते हैं। अतिक्रमणावस्था में शक्ति तथा शक्तिमान में कोई भेद उपलब्ध नहीं हो सकता। वहाँ

शक्ति भी है और शक्तिमान भी है तथापि एकत्व में। यही साधक की यथार्थ बोधस्वरूपता है। बोधस्वरूपावस्था में उन्नीत होने पर यह ज्ञात होता है कि जगत के अनन्त वैचित्र्य में भी वही एक विराजित है। वही अनन्त है। अनन्त ने उस एक का ही आश्रय लिया है। वह 'मैं' रूप एक एवं स्वप्रकाशीतत्व है। अद्वैत का यथार्थ तात्पर्य अभी तक प्रकाशित नहीं हो सका है। अद्वैत कहने से एक सीमाबद्धता आ जाती है, अर्थात् अद्वैत है अत: द्वैत नहीं है। अद्वैत तथा द्वैत रूप से दो सत्ता का अनुभव होने लगता है। सत्य तो यह है कि अद्वैत, द्वैत, द्वैताद्वैत आदि भी एक है।

✤

कुण्डलिनी शक्ति

कुण्डलिनी शक्तिरूपा है। उसका नामान्तर है विन्दु। इसे चिदाकाश भी कहते हैं। यह परमेश्वर की महामायारूपी शक्ति है। परमेश्वर अथवा परमशिव को चित्स्वरूप कहा गया है। इनकी शक्ति दो प्रकार की है। प्रथम है चिद्रूपिणी, द्वितीय को अचिद् रूपिणी कहते हैं। चिद्रूपिणी शक्ति को चित् शक्ति भी कहा जाता है। यह परमेश्वर से अभिन्नरूपा है। इसे शास्त्र में स्वरूप शक्ति की संज्ञा प्रदत्त है। विन्दु रूपिणी शक्ति परमेश्वर की ही शक्ति होने पर भी अचिद्रूपा है। अचिद् होने पर भी इसमें मलिनता का स्पर्श नहीं है। विन्दु शक्ति को परिग्रह शक्ति भी कहते हैं। माया एवं महामाया का भेद जानना आवश्यक है। माया देहात्मबोध प्रधान मलिन जगत की उपादान रूपा है, जबकि महामाया शुद्ध जगत की उपादान है। महामाया का नामान्तर है विन्दु अथवा कुण्डलिनी। परमेश्वर के अन्त:संकल्प के प्रभाव से शुद्ध जगत का आविर्भाव होता है। अशुद्ध जगत् परमेश्वर के प्रभाव से माया द्वारा आविर्भूत होता है। यद्यपि अशुद्ध तथा शुद्ध, दोनों प्रकार के जगत् जड़ रूप ही हैं, तथापि शुद्ध जगत के ऊपर सविकल्प ज्ञान का कोई प्रभाव नहीं होता। अशुद्ध जगत् माया रूपी अशुद्ध शक्ति द्वारा प्रसवित है। अतएव उसके ऊपर सविकल्प ज्ञान का प्रभाव पड़ता रहता है।

विन्दु रूपिणी कुण्डलिनी शक्ति परमेश्वर के प्रभाव से परिणाम को प्राप्त करती है। अतएव वह निर्विकल्प ज्ञान से ही प्रभावित होती है। माया शक्ति परमेश्वर के निर्विकल्प ज्ञान से योग प्राप्त नहीं करती। माया ईश्वराधीन है। वह मायिक जगत् की कारणरूपा एवं उपादान रूपा है। ईश्वर अविकल्प ज्ञान द्वारा माया को क्षुब्ध करते हैं। माया क्षुब्ध होकर मायिक जगत् के उपादान रूप कार्य में परिणत हो जाती है। यद्यपि ईश्वर माया को क्षुब्ध करने में समर्थ है तथापि बिन्दु अथवा महामाया को क्षुब्ध करने का सामर्थ्य ईश्वर को नहीं है। महामाया (विन्दु) ईश्वर के ज्ञान के अधीन नहीं है। सृष्टि के आदि में परमेश्वर के ज्ञान के प्रभाव से विन्दु क्षुब्ध होकर शुद्ध जगत के आविर्भाव को प्रत्यक्ष कराता है। विन्दु को ही परिग्रह शक्ति भी कहते हैं। यह उपादान है, अत: परिग्रह शक्ति रूप भी है। चित्शक्ति रूप भी है। कर्मवाहिनी शक्ति रूप है। यह चिदात्मशक्ति से अभिन्न होकर स्थित रहता है। इस परम्परा को हृदयंगम करना साधक के लिये हितकारी होगा। शुद्ध जगत के ऊपर क्रमश: शुद्धविद्या, ईश्वर, सदाशिव तथा शिवशक्ति की सत्ता रहती है। कुण्डलिनी (विन्दु) ही शुद्ध शक्ति है। यह भौतिक देह की उपादान नहीं है। इसे निर्मल देह की उपादानरूपा कहते हैं। माया मलिन देह की उपादान रूपा है। शुद्ध देह को वैन्दह देह भी कहा जाता है। परमेश्वर के अनुग्रह से बिन्दु ज्योतिरूप देहाकृति में प्रतिभात होता है। यही ज्ञानदेह है। इसकी प्राप्ति होती है, एकमात्र परमेश्वर की कृपा से। चिदाकाश भी महामाया का ही नामान्तर मात्र है। दीक्षाकाल में शिष्य को इसी ज्योतिर्मय वैन्दव देह की प्राप्ति होती

है। यह प्राप्ति दो स्थितियों में संभव होती है, महाप्रलय काल में जगत् ध्वंस होने पर, जीव का मलपाक पूर्ण होते ही, परमेश्वर वैन्दव देह प्रदान करते हैं। यह देह कुण्डलिनी प्रसृत होता है। द्वितीयावस्था में मायिक देहावस्थान काल में ही मलपाक हो जाने पर अथवा गुरु कृपा एवं परमेश्वरानुग्रह से भी वैन्दव देह की प्राप्ति हो सकती है। प्रलय स्थिति तथा इस स्थिति की प्राप्ति में पारस्परिक विभेद दृष्टिगोचर होता है। प्रलय काल में मलपाक होने पर मात्र वैन्दव देह ही प्राप्त होता है। और मायिक देह की सत्ता नहीं रहती, परन्तु द्वितीय स्थिति में मायिक एवं वैन्दव, दोनों देह साथ-साथ स्थित रहते हैं।

कुण्डलिनी शक्ति मूलाधार में सुप्तवत् दण्डायमान रहती है। इसमें क्षोभ होने पर शुद्ध शब्द का आविर्भाव होता है। शुद्ध शब्द को ही नाद कहते हैं। मानव देह में मूलाधार से लेकर आज्ञाचक्र पर्यन्त षट्चक्रों की सत्ता परिलक्षित होती है। मूलाधारस्थ चक्र में चार मातृकायें अवस्थान करती हैं। अत: यह चतुर्दल कमल है। कमल एवं चक्र का भेद ही ज्ञातव्य है। कुण्डलिनी की सुप्तावस्था में वे सभी चक्ररूप हैं। कुण्डलिनी के जागरणोपरान्त वे ही कमल कहलाते हैं। चक्रावस्था में जो मातृका रूप है, कमलावस्था में वही कमल दल है। इस प्रकार मानव देह में सुषुम्ना नाड़ी से सम्बन्ध युक्त ६ चक्रों की स्थिति रहती है। ५ चक्र पन्चभूत समूह से सम्बन्धित रहते हैं। आज्ञा चक्र चित्त के साथ सम्बन्ध युक्त है। मूलाधारस्थ कमल के प्रस्फुटन होने पर उसमें ४ दल दृष्टिगोचर होने लगते हैं। स्वाधिष्ठान में ६, मणिपूर में १०, अनाहत १२, कण्ठस्थ विशुद्ध में १६, भ्रू मध्यस्थ आज्ञा में द्विदल रूप मात्रिकाओं का विकास अनुभूत होता है। समष्टि में ५० मातृकायें हैं। इसमें भी एक रहस्य है। द्विदल में दो वर्ण हैं। ऊपर है हकार तथा नीचे सकार अवस्थान करता है। यह हकार विन्दुयुक्त कहा गया है। मूलाधार में चतुर्दल कमल है। उसमें सर्व निम्न स्थल में सकार अवस्थित है, जो विसर्ग युक्त है। ऊपर में हकार विन्दु युक्त तथा नीचे सकार विसर्ग युक्त। इसे ही प्राणशक्ति कहते हैं। योगी के लिये यह प्राणशक्ति 'सोऽहं' रूप हो जाती है। अजपा सिद्ध योगी ही इस रहस्य को यथायथ रूप से जान सकते हैं। शरीरस्थ ७२००० नाड़ियों में से मोक्ष नाड़ियों की संख्या मात्र ३२ है। इसमें भी मुख्य ३ ही हैं, इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना। इड़ा वाम मार्ग से तथा पिंगला दक्षिण मार्ग से संचारित है। इनकी वक्र गति है। इसी दो मार्ग से प्राणशक्ति आती-जाती रहती है। इन दोनों के मध्य में सरल गति है। इस सरलगति को सुषुम्ना कहते हैं। इसके अन्तर्गत वज्रा नाड़ी, चित्रिणी नाड़ी तथा ब्रह्म नाड़ी की सत्ता रहती है।

सुषुम्ना प्रवेश के अभाव में महाशक्ति का जागरण नहीं होता। सुषुम्ना प्रवेश करते ही इड़ा-पिंगला का आवर्त्त कटता जाता है। यह काल का आवर्त्त है। सुषुम्ना कालनाशिनी शक्ति है। योगी का परम लक्ष्य है सुषुम्ना प्राप्ति के अनन्तर ब्रह्म नाड़ी में प्रवेश करना। वेदांतोक्त आनन्दमय कोष इसी का प्रतीक है। इसकी प्राप्ति का एक क्रम ज्ञातव्य है। प्रत्येक चक्र के ३ अंग होते हैं सर्वाग्र में मातृका, तदनन्तर नाद,

सर्वान्त में विन्दु। इस क्रम से साधना में अग्रसर होना चाहिये। मातृका को व्यवहार भूमि की कला कहते हैं। प्रथमतः मूलाधार में प्रवेश करना चाहिये। प्रवेश के लिये यहाँ एक गूढ़ रहस्य द्वार है। इस द्वार को खोलना चाहिये। यह द्वार सर्वदा बन्द रहता है। जब विरुद्ध शक्तियाँ परस्पर संघर्षण से साम्यावस्था की सृष्टि करती हैं, तब नीचे से चिदग्नि का उद्दीपन होता है। यह चिदग्नि विरुद्ध शक्तियों का विनाश करके प्राण तथा अपान का साम्य करती है। यह स्थिति है समान। साम्य से जिस अग्नि का विकास होता है वह है उदान। ब्रह्मरंध्र प्रवेशावस्था में चिदग्नि ही व्यान रूपता धारण करने लगती है। इस चिदग्नि द्वारा मूलाधार रूप प्राचीर को दग्ध करना होता है। मूलाधार का प्राचीर मातृकामय परिलक्षित होता है। इस प्राचीर के गलित होते ही उपरोक्त रुद्ध द्वार खुल जाता है। यहाँ ४ मातृकायें स्थित हैं। प्रत्येक मातृका चिदग्नि संस्पर्श से गल जाती है। वर्णभाव गलने के अनन्तर नादरूपता का उदय होता है। नादरूपता ही उर्ध्वगति को जन्म देती है। विन्दु स्थान सुषुम्ना नाड़ी का एक पड़ाव है। मूलाधार का अन्य वर्णों के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रहता। वर्ण गलित होने पर उसका नाद से सम्बन्ध स्थापित हो जाता है।

सुषुम्ना का यह वैशिष्ट्य है कि वह निरन्तर उर्ध्वगति में गतिमान रहती है। अतएव सुषुम्ना की गति में आसीन होने से चक्रभेद सम्पादित होता है तथा विन्दु में परिणति हो जाती है। आज्ञाचक्र में एकमात्र विन्दु ही अवस्थान करता है। यहाँ मातृका समाप्त हो जाती है। यही शिवमंत्र का स्थान है। आज्ञाचक्र में ज्ञान चक्षुत्व की प्राप्ति होती है। यहाँ से दो मार्ग का संधान प्राप्त होता है। एक मार्ग सहस्रार की ओर जाता है। दूसरा मार्ग ब्रह्मरंध्र में समाप्त होता है। अर्थात् एक मार्ग परमेश्वर की ओर तथा दूसरा मार्ग ब्रह्म की ओर जाता है।

✤

कामाख्य विन्दु

कामकला में कामाख्य विन्दु ही काम है। इस विन्दु के ज्ञान से शिव-शक्ति सामरस्य होता है। शिव स्थायित्वपूर्ण है। शक्ति की सत्ता चैतन्यमय रहती है। इस कारण इन दोनों का पारस्परिक सम्मिलन अनुभूत होते समय शिव स्थायित्व पूर्ण होने पर भी शक्तिमत्ता के कारण स्थिर नहीं रहता तथा शक्ति गतिशीलत्वपूर्ण चैतन्ययुक्त होने पर भी गतिमान नहीं रह सकती। यही पृष्ठभूमि है। इसे ही स्थिति भी कहते हैं। सृष्टि तथा संहार होता है अग्नि एवं सोम के द्वारा। अग्नि संहारत्व गुणयुक्त है तथा सोम सृष्टिशील है। बाह्य जगत में भी अग्नि की स्थिति के लिये ईंधन की आवश्यकता होती है। यही ईधनत्व है सोम। सोम का आश्रय लिये बिना अग्नि की सत्ता प्रकाशित हो ही नहीं सकती। इसी प्रकार अग्निविहीन स्थिति में सोम भी कार्य नहीं कर सकता। सोम को चन्द्रविन्दु भी कहते हैं। इस विन्दु को गलित करने के लिये अग्नि की आवश्यकता रहती है। अग्नि को स्वकार्य हेतु सोम की आवश्यकता है और सोम को कृतकार्य होने के लिये अग्नि का सहाय्य अभीप्सित है। इसे सृष्टि और संहार रूप क्रीड़ा का रहस्य व्यापार भी कहा जा सकता है। सृष्टि और संहार महाशक्ति के स्तनद्वय हैं। उनके मस्तक पर लगी कुंकुम की बिन्दी ही स्थिति रूप सूर्य है। सृष्टि एवं संहार की समरस (साम्य) अवस्था में ही स्थिति प्रकाशित होती है। हम सृष्टि एवं संहार न कहकर इस स्थल पर शिव एवं शक्ति कहते हैं। शिव है प्रकाश तथा शक्ति विमर्शरूप से विराजित रहती है। जब इन दोनों की क्रीड़ा साम्यावस्था में होती हैं, तब वह साम्यावस्था ही सूर्य रूप है। इसे कामाख्य विन्दु कहते हैं। इसी कारण कामाख्य विन्दु रूपी सूर्य की परिकल्पना महाशक्ति के मस्तकस्थ कुंकुम विन्दु के रूप में की गयी है।

सूर्यावस्था से निम्न स्तर में अवतरण करने पर हार्धकला का साक्षात्कार होता है। योनि प्रवेश से हार्धकला का ज्ञान होता है। एक ओर हार्धकला है, अन्य दिक् में सोम एवं अग्नि है। अग्नि है प्रकाश तथा सोम है घृत रूप। अग्नि ताप से (अग्नि सम्पर्क से) घृत गलित होने लगता है और बहने लगता है। इस बहने (प्रवाह) को चित्शक्ति संवित भी कहते हैं। संवित ही सृष्टि का आधार है। इसमें ३६ तत्त्वों का उदय होता है। इन कुछ तत्त्वों में शिवशक्ति भी सम्मिलित रहती है। शिवशक्ति का आविर्भाव सृष्टि मध्य में होता है। कारण यह है कि शिवशक्ति के अभाव में विश्व की सत्ता ही नहीं रह जाती। यहाँ विचित्रता यह है कि शिवशक्ति का आविर्भाव यहाँ संवित् से होता है। तथा संवित् की पृष्ठभूमि में (संवित् से पूर्व) भी शिवशक्ति की सत्ता विद्यमान रहती है। इन दोनों शिवशक्तित्व में भी आधारगत भेद है। एक शिवशक्ति सृष्टि के अन्तर्गत है। दूसरी शिवशक्ति सत्ता स्थिति के अन्तर्गत है। स्थिति का तात्पर्य है जब शिवशक्ति सामरस्य में हैं तथा सृष्टि के अन्तर्गत संवित् रूप से

उनका प्रवाह होने वाला है। अत: सृष्टि पूर्व अथवा सृष्टि के उत्तर काल में, उभयावस्था में शिवशक्ति का आश्रय आवश्यक है। शिवशक्ति के अभाव में कुछ भी नहीं हो सकता। 'अकार: सर्ववर्णाग्र: प्रकाश: परम: शिव:'। अकार है शिव तथा हकार शक्ति रूप अन्त्यकला स्वरूप विमर्श है। अ तथा ह से अहं बोध होता है। म् ही विन्दु रूप है।

'अहं' सर्ववर्ण की समष्टि है। यह समस्त शक्ति समूह का द्योतक है। यह सबको समाश्रित किये रहता है। यही आधार वहाँ भी है। यह आधार शक्ति रूप से कार्यरत रहता है। उदाहरणार्थ एक आकर्षण है दक्षिण से तथा अन्य आकर्षण है वाम से। दोनों आकर्षण अपनी-अपनी ओर खींच रहे हैं। दोनों का अप्रतिम बल परस्पर विरुद्ध दिशा में खींच रहा है। दोनों बल समान होने की स्थिति में क्यो होगा? यदि दोनों ओर का आकर्षण सम मात्र में है, उस अवस्था में व्यक्ति या वस्तु किसी ओर नहीं जायेगा। यही है शक्त्यावस्था। दक्षिण शक्ति का विरोध उत्पन्न हो जाता है। पृष्ठभूमि में यही हो रहा है। सम शक्ति स्थिति ही सामरस्य है। इसे स्थिति कहते हैं। यही सूर्यावस्था है। हार्धकला का तात्पर्य है, ह का अर्ध-विसर्ग। आधा क्यों हैं ? आधा इसलिये कि उसके पश्चात् गति निरुद्ध हो रही है। 'क्ष' गति को निरुद्ध कर रहा है। क्ष को कूटाक्षर कहते हैं। कूटाक्षर पर्यन्त जाने पर अपना क्षेत्र समान हो गया। अकार से हकार पर्यन्त आकर गति रुक गयी। अब यहाँ से अग्रगति कैसे हो यह विचारणीय है। अहं का निर्माण होता है। अ + ह + ँ = अहम्। यही सृष्टि बीज है। इसे वाक् कहते हैं। वैखरी का अर्थ है अ से ह पर्यन्त वर्णमाला। इस वैखरी की गति अहं की ओर नहीं है। अत: जीव असमाप्त सृष्टि से चक्रीय गति से घूर्णित होता रहता है, क्योंकि अहं भाव प्राप्त नहीं हो सका। अत: अहंभाव की प्राप्ति से ही गति प्राप्त होती है।

पूर्ण अहंभाव की जागृति के लिये ही शक्ति का विकास किया जाता है। सृष्टि के प्राक्काल में मातृका स्वरूप की कोई सत्ता नहीं रहती। अत: अ—ह का आविर्भाव सृष्टि स्थिति में हुआ है। अ से ह पर्यन्त जीव का आगमन हुआ। देह को अहं मानकर अ से ह के मध्य विचरण करता रहता है। कूटाक्षर 'क्ष' के कारण उसका मिलन अनन्त सृष्टि से नहीं हो पाता। अ से आ का प्राकट्य हुआ। 'अ' स्फुरित सत्ता नहीं है तथापि 'आ' उसका स्फुरणात्मक रूप है। 'अ' से जब एक और 'अ' का निर्गम होता है तभी से स्फुरत्ता का विकास होता है। यही है 'आ'। इस स्फुरण से इच्छा का उदय होने लगता है। स्फुरत्ता के अभाव में इच्छा अव्यक्त ही रह जाती है, उसका व्यक्तीकरण नहीं होता। 'अ' और 'आ' एक ही हैं, तथापि 'अ' से सृष्टि नहीं हो सकती। 'आ' से सृष्टि संभव हो जाती है। 'आ' की सृष्टि के अनन्तर क्या होता है ? 'अ' के एक अंश 'आ' रूपी आनन्दावस्था द्वारा एक न्यूनता की सूचना प्राप्त होती हैं। उक्त है, ''आनन्दाध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते''। चैतन्य से सृष्टि नहीं होती। वह तो निरपेक्ष प्रकाश रूप है। आनन्द की सूचना 'आ' से मिलती है। आनन्द के उल्लास से क्षोभ होता है। आनन्द क्षुब्ध होने से इच्छा का उदय होने लगता है। इच्छा के

अभाव में सृष्टि कैसे होगी? इच्छा के उदय के अनन्तर ईशिता का उदय होता है अर्थात् 'ई'। इस प्रकार यह आश्चर्यपूर्ण कृत्य क्रमिक रूप से बढ़ता जाता है। जिस भूमि की यह वार्ता है, वह ईश्वर से भी अतीत की स्थिति है। यह परमशिवावस्था है।

हम जिस विश्व की पर्यालोचना कर रहे हैं उसकी सृष्टि कहाँ से होती है? ईश्वर से ही होती है। ईश्वर भूमि से ही विश्व बीज निर्मित होता है। ईश्वर के अभाव में बीज निर्माण नहीं होता। बीज ही काम है। बीज ही उन्मेष रूप है। उन्मेष अत्यन्त विस्मय पूर्ण तत्त्व है। ईशितापूर्ण इच्छा (ई) से उन्मेष होता है। उन्मेष के पूर्व (ई रूपी) ईशिता की स्थिति आती है। तदनन्तर उन्मेष (उ) से ऊर्मि (ऊ) का उदय होता है। उन्मेष का तात्पर्य क्या है? उन्मेष का तात्पर्य है जो वस्तु जगत में नहीं है, वह इच्छा के फल से बीज रूप में निहित रह जाती है। जब इच्छा ही नहीं है, तब बीजरूपता भी नहीं है। मात्र उसकी संभावना आनन्दरूपता में सन्निहित रह जाती है। आनन्द में अभाव संचार के क्षण में इच्छा का उदय होता है। इच्छा के उदय के साथ-साथ बीज का निर्माण हो जाता है। आनन्द ही मातृशक्ति है। आनन्द जगन्माता है और प्रकाश में शिवरूपता है। आनन्द के मध्य में जगन्मातृत्व अपने स्वरूप में विद्यमान है। 'अ' है प्रकाश। 'आ' पश्चात् काल में उदित हुआ है। आनन्द में एक अभाव है। अर्थात् मातृत्व वात्सल्य का अभाव बोध कर रहा है। माँ को सन्तान का अभाव बोध है। इस अभाव की पूर्ति के लिये सृष्टि रूप सन्तान का प्रसव होता है। यह अभाव बोध ही इच्छा रूप है। इस अभाव की पूर्ति होती है इच्छा के माध्यम से। आनन्द का आश्रय लेकर ही इच्छा आत्मप्रकाश करती है। आनन्द स्थिति पूर्णत्व का भण्डारागार है। 'अ' पूर्णत्व का भण्डार नहीं है। वह पूर्णत्व से भी अतीत है। वहाँ सृष्टि स्थिति तथा संहार, तीनों एकाकार हैं। 'अ' से सृष्टि नहीं हो सकती। 'अ' से 'आ' का निर्गम होता है। 'आ' है आनन्द। इसमें सब कुछ सन्निहित रहता है। जो कुछ अभीप्सित है, सभी 'आ' से प्राप्त हो सकता है। 'आ' के निर्गमन के साथ इच्छा का संचार होते ही रचना का प्रारम्भ क्षण उपस्थित होता है। यह आनन्द की इच्छा है। इच्छा सृष्टि का अंकुर है। सृष्टि की इच्छा के साथ-साथ उन्मेष होने लगता है। जहाँ कुछ भी नहीं था वहाँ सृष्टि का प्रारम्भ हो जाता है। यही उन्मेष है। अर्थात् इच्छाकारी के ज्ञान में नाम रूप का उदय होने लगता है। (यह ज्ञान शास्त्र ज्ञान नहीं है। यहाँ जो वार्ता चल रही है उस क्रम में अभी तक ईश्वर का उदय नहीं हुआ है)। जिसे उन्मेष होता है, वही इच्छित एवं उन्मिषित नाम, रूप का अनुभव कर सकता है। कारण वह नाम, रूप अभी प्रकृति के गर्भ में नहीं आ सका है। अभी जो स्थिति वर्णित है, वह प्रकृति से अतीत की अवस्था है। सन्तान जन्म के पूर्व पुरुष के अन्तर्गत वीर्य का उदय होता है। तत्पश्चात् वह वीर्य स्त्री के गर्भ में स्थापित होता है। अब स्त्री उस गर्भ का पोषण करती है। समय पूर्ण होने पर प्रसव प्रक्रिया के पश्चात् ही जगत् में शिशु को देखा जा सकता है। यहाँ भी अभी वही अवस्था जानना चाहिये।

सृष्टि के पूर्व जो उन्मेष है, उसे स्वरूपज्ञान द्वारा ही देख सकना संभव है। इसे कहाँ से देखा जा रहा है ? इसे आनन्द के ठीक बाहर से देखा जा रहा है, क्योंकि एक बार आनन्दावस्था से इच्छा का उदय हुआ, तदनन्तर उन्मेष को देखने की इच्छा हुई। यह द्वितीय आकांक्षा है। अतः अब उन्मेष सृष्टि मध्य में पतित हो जाता है। तथापि वह देखा जा सके, ऐसा भी तत्व नहीं है। अब इस स्थिति में जो आकार भासित होता है, वह है उन्मेष की उर्मि। उर्मि का यह अर्थ है कि जिस तत्व की उपलब्धि स्वरूपज्ञान द्वारा हो सकी थी। अब उसमें धनीभूतता का संचार होने लगा। यह ज्ञान की ज्ञेयोन्मुखी स्थिति है। ज्ञान और ज्ञेय एक ही तत्व हैं और प्रथमतः उसकी स्थिति ज्ञानरूप से ही रहती है। तथापि उर्मि अवस्था के अनन्तर ज्ञेय आकार रूप हो जाता है। अब ज्ञेय रूपता नहीं है अपितु ज्ञेय का आकार आविर्भूत हो उठा है। उसे देखा जा रहा है, परन्तु अन्य कोई नहीं देख सकता। अतः ज्ञेय में स्तर उत्पन्न होता है। ऊनता अर्थात् 'ऊ'। अब तत्त्व को प्रकृति का संयोग मिलता है। यह है वीर्य का प्रकृति गर्भ में (स्त्री में) प्रवेश। यह अवस्था है ए, ऐ, ओ, औ। जब प्रकृति गर्भ में वीर्य स्थापना हो गयी, तब कुछ भी करणीय शेष नहीं है। अब प्रकृति का कार्य प्रारम्भ हो जाता है। प्रकृति उसे पुष्ट करती है। अन्ततः प्रसवित होती है। प्रसव के उपरान्त इसे देख सकते हैं। यह वैंदवी सृष्टि का क्रम है। इसके पश्चात् विसर्गिक सृष्टि होती है। यह जगत् विसर्गिक सृष्टि रूप है।

✤

स्वभाव की महागति

जीवन में अभाव तथा स्वभाव की गति कार्यरत रहती है। सामान्य जीव अभाव की गति में पड़े रहते हैं। इनको संस्कार के कारण विभिन्न अभावों के जागरण का अनुभव करते रहना पड़ता है। अभाव बोध के साथ अभाव को हटाने की चेष्टा की जाती है। यह चेष्टा कभी सफल नहीं होती, कारण एक अभाव के हटते ही अन्य अभाव अथवा अभाव समूह का बोध होने लगता है। जैसे घोर आतप से तप्त व्यक्ति को तृषा का अनुभव होता है, परन्तु जल पीने पर भी यह तृप्ति सर्वकालिक नहीं हो सकती। कुछ समय अनन्तर पुन: प्यास लगने लगती है, यह जगत ही अभावमय है। इस कारण जीव अभाव की गति से चंचल होता ही रहेगा। अभाव की तृप्ति मात्र सामयिक ही होती है। यह तृप्ति नहीं, अपितु तृप्ति का आभास है, ऐसा भी कहा जा सकता है। जागतिक धारा अभाव की धारा है, अत: जागतिक धारा में प्रवहमान रहते-रहते अभाव का अनुभव करना ही होगा। समग्र सृष्टि इसी अभाव से आच्छन्न है। इसी कारण चिरतृप्ति का समाधान नहीं हो सका। प्रत्येक अभाव के समान स्वभाव की गति की भी सत्ता है। इसे महागति भी कह सकते हैं। प्राणीमात्र में स्वभाव की गति अथवा धारा विद्यमान है और कार्यरत है। प्राणी का चैतन्याभाव, प्राणी में जागृति की न्यूनता, वह कारण है जिसके रहते स्वभाव की धारा का संस्पर्श प्राप्त नहीं हो सकता। गया धाम में फल्गु नदी की धारा धरती के भीतर बहती रहती है। इसी प्रकार स्वभाव की धारा आभ्यन्तरीण रूप से प्राणी के अन्तरतम में विद्यमान है। गुरु कृपा, महापुरुष अथवा ईश्वर की कृपा से, धैर्यावलम्बन पूर्वक अध्यवसाय युक्त होकर इस धारा में अवगाहन करते रहने से वह स्थिति आयत्त होती है जो अनन्तकालीन अभाव का समाधान कर देती है। अभाव की धारा में अपूर्णता का ज्ञान ही स्वभाव है। एतद्विपरीत स्वभाव की धारा में अपूर्णता की प्राप्ति स्वभावत: होने लगती है। एक बार भी इस का संस्पर्श मिलने से प्राणी चिरकाल के लिये निश्चित हो सकता है।

स्वभाव की गति प्राणीमात्र में विद्यमान है। जब तक जीव विषय रूप जगत से उदासीन नहीं होता, तब तक स्वभाव की धारा अपना आत्म प्रकाश नहीं करती। जब जगत् के अभावों के कारण चारो ओर अविच्छिन्न निराशा व्याप्त हो जाती है, तब स्वभाव की धारा स्वयमेव स्फुरित होने लगती है। गुरु की अनुग्रह शक्ति का कार्य है जीव को स्वभावोन्मुख बनाना।

✤

ध्यान

ध्यान की दर्शन रूप अवस्था द्विविध है। एक में स्पर्शमात्र होता है, दूसरे में स्थिति होती है। स्पर्शमात्र का अर्थ है शब्द, स्पर्श, रूप, रस गंध का स्पर्श जो ध्यानज ध्येय से प्राप्त होता है। जैसे ध्यान में किसी दिव्यात्मा का आविर्भाव होता है। उस दिव्यात्मा के शब्द का श्रवण, अंग का स्पर्श, रूप का दर्शन, रस का आस्वाद तथा गंध का आघ्रॅाण, सभी स्पर्श संज्ञा वाच्य है, कारण प्रत्येक इन्द्रियाँ अपने-अपने विषय का स्पर्श करती हैं। तथापि यह वास्तविक दर्शन नहीं है, क्योंकि कुछ समय के अनन्तर यह आविर्भाव तिरोधान में परिवर्तित हो जाता है। अत: ध्यान में स्थिति होना आवश्यक है। स्पर्श को आभास रूप कहते हैं, इससे जीवन की धारा में व्यापक परिवर्तन नहीं हो सकता। यद्यपि आनन्द होता है तथापि यह भी एक प्रकार से विषय रस का ग्रहण मात्र है। यहाँ परिवर्तन तत्त्व का ज्ञान होना आवश्यक है। यहाँ परिवर्तन का तात्पर्य है एक अस्थायी अवस्था से अन्य अवस्था की प्राप्ति के कारण स्थिति भाव का आविर्भाव। स्थिति अवस्था रसहीन होती है। वेदान्तसार के अनुसार समाधि के चार अन्तराय होते हैं यथा लय, विक्षेप, कषाय तथा सुखास्वाद (रसास्वाद)। अत: स्थिति अवस्था रसास्वाद रहित होने के कारण अन्तरायविहीन होती है।

लय अवस्था अनेकांश में निद्रा के समान होती है। यह एक प्रकार का मूढ़भाव है। आचार्य गौड़पाद के अनुसार लय अवस्था में भी चित्त को सम्बोधित करते रहना चाहिये, ताकि वह जगा रहे। लय भाव को तत्वज्ञान का विरोधी कहते है। **विक्षेपावस्था** में चित्त को शान्त रखना चाहिये। पतंजलि के अनुसार चित्त विक्षेप के अनेक कारण होते हैं। रजोगुण की प्रबलता इसका मुख्य कारण है। **कषाय** का तात्पर्य है राग, द्वेष, मोह। मधुसूदन सरस्वती तथा सदानन्द के अनुसार स्तब्धता ही कषाय है। कषाय का शमन होता है, विज्ञान अथवा विवेकज्ञान द्वारा। समाधि में चित्तैकाग्रय के कारण **सुख** की प्राप्ति होती है। आचार्य का कथन है कि इस अवस्था में सुखास्वादन नहीं करना चाहिये 'नास्वादयेत् सुखं तत्र'। सुखास्वाद भी भोगान्तर्गत कहा गया है। यहाँ साधक को प्रज्ञावलम्बन द्वारा नि:संग रहना चाहिए। इससे चित्-स्वरूप सत्ता में साधक की स्थिति हो जाती है। चित्त निश्चल एवं एकीभूत हो जाता है। अतएव सुखास्वादन रूप रस ग्रहण की स्थिति भी समाधि का विघ्न है। उक्त है—

यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुन: ।
अनिंगनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा ॥

लय विक्षेय, चलन और आभासन (विषयाकार में प्रतिभासन) से मुक्त चित्त ही ब्रह्म है। चित्त की यह निराभास अथवा अनाभास अवस्था ही निर्विकल्प दशा है। इसे आचार्यगण चिन्तनाशून्य अवस्था भी कहते हैं। लंकावतार सूत्र के मतानुसार चिन्तनाशून्य अवस्था ही बुद्धभूमि है। आचार्य गौड़पाद ने इसे 'अकथ्य उत्तम' कहा है। समाधि अन्तराय रूप रसास्वाद हेय है।

निर्विकल्प समाधि के अभ्यास से चित्त में निपुणता का संचार होता है। इस अवस्था में भी परमात्मवस्तु में चित्त का लय होता है तथापि यह समाधि का अन्तराय रूप लय नहीं है। जब आलस्यवश चित्त मूर्च्छना में होकर बाह्यविषयो से विरत रहता है तब इस समय प्रत्यगात्मा का प्रकाश उस पर नहीं पड़ता। इस स्थिति में स्तब्धता के समान जड़ता आविर्भूत हो उठती है। यही वह **लय** है, जिसको समाधि का अन्तराय कहते हैं। जब अनन्त वस्तु के साक्षात्कार के लिये अन्तर्मुखावस्था की ओर अग्रसर चित्तवृत्ति विचलित हो जाती है, तब उसे ही **विक्षेप** कहते हैं। साधना का अन्तराय **राग** तीन प्रकार का होता है—बाह्य, आभ्यन्तर तथा वासनारूप। पुत्र, कन्या, ऐश्वर्य कीर्ति आदि में जो अनुरक्ति है, उसे बाह्यराग कहा जाता है। मनोमय कल्पना राज्य में मानसिक विचरण आभ्यन्तर राग है। तृतीय राग में वृत्तिरूपता नहीं है, वह संस्कार रूप है। अनेक जन्मों में बाह्य तथा आभ्यन्तर राग के अनुभव से उत्पन्न संस्कार को ही संस्कार राग कहते हैं। इस संस्कार राग में कलुषित हो रहे चित्त को अत्यन्त प्रयत्न से अन्तर्मुख किया जाता है। यह अन्तर्मुख चित्त चैतन्य का संस्पर्श न मिलने के कारण गन्तव्य बिन्दु पर स्थित होने के पहले ही स्तब्ध होने लगता है। अखण्ड वस्तु की प्राप्ति के लिये प्रयत्नशील चित्त को रागादि संस्कार अभिभूत करके स्तब्ध बना देते हैं। अतः अखण्ड वस्तु की प्राप्ति नहीं होती। यही समाधि का अन्तराय **कषाय** है।

हठयोगी आचार्यों के अनुसार योग की आरम्भ, घट, परिचय तथा निष्पत्ति अवस्थाओं में क्रमशः उत्तरोत्तर ग्रन्थि भेद होने के कारण उत्तरोत्तर आनन्द का अनुभव होने लगता है। पहली अवस्था में किंचित ग्रंथि भेद होने के कारण आनन्द, द्वितीय में तताधिक् ग्रन्थि होने के कारण प्रथमावस्था से अधिक आनन्द होता है। यह परमानन्द है। तृतीय अवस्था में और अधिक ग्रंथिभेदन होने के कारण चित्तानन्द का उदय होने लगता है। इन तीनों आनन्द का त्याग करके और ऊपर उठना चाहिये। सब आनन्दों में क्रम है, कारण ये परिमित हैं। अतः परिमित रूप होने के कारण इन सभी में विषय रहता है। तदनन्तर चतुर्थावस्था में सहजानन्द होता है। सहजानन्द की स्थिति भोग से परे है। पातंजलोक्त सम्प्रज्ञात समाधि में आनन्दावस्था का आस्वाद मिलता है। इस आनन्द का अतिक्रमण करना आवश्यक है। अतिक्रमण के अनन्तर अस्मिता में प्रतिष्ठा प्राप्त होती है। तत्पश्चात् विवेकख्याति के प्रभाव से स्वरूपावस्थान होता है। प्राचीन बौद्धाचार्यों के मतानुसार काम में कलंकित जगत् के कलुषित चित्त को साधना द्वारा निष्काम ज्योतिर्मय चित्तरूप में परिणत किया जा सकता है। यही रूपचित्त है। रूपचित्त ही ध्यान चित्त है। ध्यानचित्त में ध्यानांङ्ग रूप में वितर्क, विचार, प्रीति, सुख तथा एकाग्रता रहती है। अब एकावलम्बन में चित्त निश्चिन्त हो जाता है। इस वर्णना से यह स्पष्ट है कि सर्वान्त में सुख रूप रसास्वादन का परित्याग करके अग्रसर होना चाहिये, अन्यथा एकत्वावस्था प्राप्त नहीं होती। ध्यानचित्त में सुख नहीं है। वहाँ उपेक्षा एवं एकाग्रता अवस्थान करती है। एकाग्रता की पूर्णावस्था को अर्पणा कहा जाता है। यही पूर्ण समाधि है। अब चित्त जाग्रत रहता है, परन्तु इन्द्रिय समूहों की बाह्यगति अवरुद्ध हो जाती है। बाह्य इन्द्रिय समूह अपने-अपने आलम्बन से सन्निकर्षयुक्त रहते

हैं, तथापि मनस्कार (मन से योग) का अभाव रहने के कारण विषय सम्पर्क नहीं होता। यही यथार्थ एकाग्रता है। इसमें चित्त का समाधान हो जाता है और वह पदार्थ का यथार्थ स्वभाव ज्ञात कर लेता है। यही है प्रज्ञा उदय तथा तृष्णाक्षय। रूपध्यान ही शमथ है। शमथ से चित्त बलशाली, शुद्ध तथा सूक्ष्म हो जाता है। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान को अनित्य, दु:खमय तथा शून्य रूप में उपलब्ध करना चाहिये। यही विशुद्ध ज्ञान है। अब चित्त को निर्वाण की ओर लगाया जाता है। इससे वास्तविक शान्ति का सन्धान तो मिल जाता है, परन्तु शान्त्यावस्था के प्रति तृष्णा का उदय होने पर निर्वाण के मार्ग पर अवरोध उत्पन्न हो जाता है। इस तृष्णा के कारण रूप लोकों में (उच्च स्तरीय देवलोकों में) दिव्य जन्म की प्राप्ति हो सकती है, परन्तु निर्वाण नहीं मिलता। अत: रसास्वादन पूर्णरूपेण वर्जित होना चाहिये।

साधक का दर्शन आंशिक दर्शन है। कारण यह है कि साधक में आंशिक भाव रहता है। ब्रह्म निरंश है अतएव उसका दर्शन अखण्ड होता है। पूर्ण का दर्शन भी पूर्ण है। यही स्थिति है। ब्रह्म का आंशिक दर्शन प्राप्त नही हो सकता, अत: साधक को अपूर्ण दशा में जो भी दर्शन मिलता है, वह वास्तविक दर्शन नहीं है, प्रत्युत आभास मात्र है। ध्यान में यह आभास ही प्राप्त होता है। आभास से जीवन में परिवर्तन कैसे होगा? जो आकार ध्यान करते हैं, वे रूप के उपासक हैं। वे इच्छानुसार अथवा गुरु परम्परानुसार किसी रूप का ध्यान करते हैं। जो निराकारोपासक हैं वे रूप अथवा मूर्ति का ध्यान नहीं करते। यह सब आभास रूप ध्यान कहा गया है। यह सब एकांश ध्यान से सर्वांश पूर्ण की प्राप्ति कैसे हो सकती है? इसके समाधानार्थ एकांश तथा सर्वांश के स्वरूप का ज्ञान आवश्यक है। इनके पारस्परिक सम्बन्ध का भान होना भी आवश्यक है। साधारणतया जिस अंश को चित्त अलम्बन के रूप में ग्रहण करता है, उस अंश से अतिरिक्त अन्य सत्ता चित्त में प्रकट हो ही नहीं सकती। यह यथार्थ शक्ति नहीं है। एक के साथ दूसरे का भेद सम्बन्ध रहना एक लौकिक नियम है। यद्यपि अंश तथा अंशी मूलत: अभिन्न हैं, तथापि अभी भेद की ही प्रधानता रहती है। इन परिस्थितियों में एक अंश का ध्यान करते रहने से सर्वांश को कैसे धारण किया जा सकेगा? यह मान्यता भी यथार्थ मान्यता नहीं है। योगियों के अनुसार उक्त है—

जात्युनुच्छेदेन सर्वं सर्वात्मकम्।

प्रत्येक वस्तु का अन्य जातीय वस्तु के साथ तादात्म्य सम्पर्क रहता है। अर्थात् सर्वांश में अंश है और अंश में सर्वांश है। इस प्रकार बाह्य दृष्टि में प्रधान अंश ही दृष्टिगत हो सकता है। अन्य अंश बाह्य दृष्टि से प्रच्छन्न रह जाते हैं। अन्तर्मुखी दृष्टियुक्त साधक के लिये कुछ भी गुप्त नहीं रहता। उसे यह उपलब्धि होती है कि प्रत्येक वस्तु में समस्त विश्व भासमान है तथा हर एक कार्य की पृष्ठभूमि में परम कारण सन्निहित है। गुरुशक्ति के प्रभाव से अन्तर्मुखी दृष्टि की प्राप्ति के फल से सभी वस्तुओं में समस्त विश्व की सत्ता भासित होने लगती है। अर्थात् सर्वत्र चैतन्य का प्रसार अनुभूत होने लगता है। उसे सद्गुरु की शक्ति का अनुग्रह मिलता है। निर्विचार

चित्त से सद्गुरु की आज्ञा का पालन करने से। यही वह उपाय है जिससे एकांश के ध्यान से सर्वांश का प्रतिफलन होने लगता है।

ध्यान शब्द अनेकार्थ वाचक है। अपनी-अपनी भावभंगी के अनुसार ध्यान का अर्थ भासित होता है। सत्य तो यह है कि ध्यान का एक वास्तविक तथा एक अवास्तविक भेद भी विद्यमान है। साधारण साधकों में प्रचलित अनेक विध ध्यान को अवास्तविक ही कहना पड़ेगा। आनन्दास्वाद तथा तन्मयता से ही ध्यान में वास्तविकता का संचार हो सकता है। यह मान्यता भी अनेकांश में त्रुटिपूर्ण है। बहुधा ध्यान के समय चित्त ध्यान जनित आनन्द में मग्नता को प्राप्त करता है। बहुधा मन आत्मविस्तृत हो जाता है। यह ध्यान का वास्तविक रूप कदापि नहीं है। यह आनन्द रस समाधि का अन्तराय रूप है। वास्तविक ध्यान में किसी भी अज्ञानसम्भूत भाव की स्थिति नहीं रहती। सम्यक् ध्यानावस्था में एक सचेतन तथा जाग्रत भाव की विद्यमानता अक्षुण्ण रहती है। वेदान्त में सुषुप्ति अवस्था के दो भेद दृष्टिगत होते हैं। प्रथम है 'सुखमहमस्वापनम्' अर्थात् मैं खूब आनन्द से सोया। अन्य भेद है 'न किंचित वेदितम्' अर्थात् मैंने कुछ भी नहीं जाना। प्रथम है रसास्वादन, द्वितीय है अज्ञान। वास्तविक ध्यान में ये दोनों भाव नहीं रहते। यथार्थ ध्यान में जो आनन्द रहता है—वह भोगानन्द नहीं है, 'मूल का स्वाद' अथवा स्वरूपानन्द है। अतः वास्तविक ध्यान के अनन्तर जगदानन्द की तो बात ही क्या है, ब्रह्मानन्द भी रसहीन प्रतीत होने लगता है। वास्तविक ध्यान का लक्षण है वैराग्य। इस वास्तविक ध्यान में गाढ़ता के साथ-साथ विश्व की मूलभूत प्रकृति के प्रति स्वभावतः वैराग्य उदित होने लगता है और नित्य एवं अनित्य का विवेक निज सत्ता में संचरण करने लगता है।

यहाँ वैराग्य तत्त्व भी विवेचनीय है। वैराग्य का सामान्य अर्थ है वितृष्णा। योगशास्त्र के अनुसार वैराग्य द्विविध है—पर वैराग्य अपर वैराग्य। भोग्य वस्तु तथा काम्य पदार्थ के प्रति वितृष्णा ही परवैराग्य रूप है। इस जगत से लेकर लोक लोकान्तर तक में, किसी भी भोग्य वस्तु के प्रति आसक्ति का अभाव होना ही अपर वैराग्य कहा जाता है। यह अनासक्ति जगत् अथवा बाह्यविषयों के प्रति विरक्ति, तुच्छत्त्व बुद्धि अथवा द्वेष रूप कदापि नहीं है। यह भोगाकांक्षा के विराम के कारण चित्त की उदासीनता है। अब शरीर तथा मन के उपादान इस प्रकार परिवर्तित हो जाते है कि उनमें विषय सम्बन्ध का लेश भी नहीं रह जाता। इस अवस्था में विषय स्पर्श की सम्भावना भी चित्त को व्याकुल कर देती है। हृदय में धधकती वैराग्यानि के रहते सांसारिक सुख से तृप्ति नहीं हो सकती। वैराग्य में जगत् की वस्तुओं से वैराग्य या उपेक्षा नहीं होती प्रत्युत उन्हें ग्रहण नहीं किया जा सकता।

इससे उर्ध्व स्थिति है पर वैराग्य की। जब चित्त भोग्य पदार्थों से ही विरक्त न रहकर परिणामशील जगत् के मूल उपादानों के ऊपर वैराग्य प्राप्त करता है, उस अवस्था में यह गुण वितृष्णा ही पर वैराग्य कहलाती है। पर वैराग्य होने पर लोक-लोकान्तर के ऐश्वर्य तुच्छ लगते ही हैं, सम्प्रज्ञात समाधि और उससे उत्पन्न प्रज्ञा तथा विवेक ज्ञान तक से वैराग्य होने लगता है। गुण संश्लिष्ट रूप से आत्मस्वरूप का दर्शन

न होने तक पर वैराग्य उदित नहीं होता। पर वैराग्य के साथ-साथ संस्कारात्मक चित्त यथायथ रूप से निरुद्ध हो जाता है। फलतः अविलम्ब चित्त स्वरूप आत्मा की स्वरूप प्रतिष्ठा हो जाती है। यहाँ विषय के स्वरूप का वर्णन करना आवश्यक प्रतीत होता है। जिसमें विष है और जो हानि पहुँचाकर अंधकार में ले जाता है वही विषय है। जिसमें विषय की गन्ध नहीं है, उसे निर्विष अर्थात् अमृत कहते हैं। वास्तव में विषय रूप कुछ भी नहीं है। एकमात्र अखण्ड ज्ञान ही विद्यमान रहता है, तथापि मनुष्य जब तक काल के अधीन है तब तक देहात्मबोध की प्रधानता के कारण, अनात्म में आत्म भावना के कारण वह उस ज्ञान को विषय के रूप में ग्रहण करने लगता है। बन्धनों का उच्छेद हो जाने पर विषय भी विलीन हो जाता है।

ध्यान प्रसंग में विक्षेप की चर्चा की गयी है। विक्षेप का कारक मन है। मन की चंचलता सर्वविदित है। मन को स्थिर करने के लिए साधना की आवश्यकता को स्वीकार करना ही होगा। साधन ध्यान के लिए पार्श्ववर्त्ती स्थितियों की अनुकूलता होना भी महत्त्वपूर्ण है। चंचलता के कारणों से दूर रहना चाहिए। मन के स्थिर हो जाने के पश्चात् कोई भी सावधानी आवश्यक नहीं होती। यहाँ यह स्मरणीय है कि मनुष्य के वर्तमान परिवेश में अनुकूलता सुलभ नहीं है। चित्त विक्षेप के अनेकानेक कारण उपस्थित हो जाते हैं, अतएव मन की स्थिरता सम्भावित नहीं होती। सर्वत्र चित्त विक्षेप के कारण उपस्थित हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में उस विक्षेप में रहते हुए, कौशल द्वारा चित्तविक्षेप दूर करना चाहिए। मनुष्य में ऐसी शक्ति विद्यमान है, जिसके द्वारा वह बहुत्व में से एकत्व को खोज निकालता है और उसे बुद्धि में आरूढ़ भी कर सकता है। अतः एक की ओर लक्ष्य रखना ही पड़ेगा। विक्षेप से घिरे होने पर भी एक की ओर दृष्टि रखने से, क्रमशः विक्षेप समूह प्रभावहीन होने लगते हैं। इस अभ्यास से ऐसी स्थिति हो जाती है, जिससे विक्षेप रहने पर भी चित्त विक्षिप्त नहीं होता। इसका कारण है दृष्टि की अन्तर्मुखता। यदि कोई सोचता है कि लहर नहीं उठेगी, ऐसी अवस्था में नदी में डुबकी लगाऊँगा। यह सोचना त्रुटिपूर्ण है। कारण नदी में सर्वदा लहर उठती ही रहेगी। अतः लहरें उठती रहें उन्हीं में डुबकी लगती रहे। इसी प्रकार यह सोचना कि जब सांसारिक विक्षेप नहीं रहेगा, तब एकाग्र होकर ध्यानाभ्यास करूँगा, व्यर्थ विचार रूप है। ऐसी आशा लगाकर बैठने से यह अच्छा है कि विक्षेप भरी अवस्था में ही ध्यानाभ्यास में तत्पर हो जाना।

ध्यानराज्य में विश्वास की महिमा का अन्त नहीं मिलता। अध्यात्मिक जीवन पूर्णतः विश्वास पर ही आधारित रहता है। विश्वास के अभाव में अनन्त पथ पर अग्रसर हो सकना संभव ही नहीं है। श्रद्धा और विश्वास का परस्पर अन्योन्याश्रय सम्बन्ध सिद्ध होता है। 'श्रद्धावान् लभते ज्ञानम' श्रद्धा से ज्ञानोदय होता है। योगसूत्र में उपायों के अन्तर्गत श्रद्धा को सर्वोच्च कहा गया है। श्रद्धा ही सर्वोच्च उपाय है। श्रद्धा अथवा विश्वास से विशुद्ध प्रज्ञा उदित होती है। वैष्णवगण भी विश्वास को आधार रूप से स्वीकार करते हैं। ईसाई धर्मावलम्बीगण ने विश्वास, आशा तथा दान रूप तीन ईसाई कृत्यों में विश्वास को सर्वप्रधान माना है। अतः विश्वास की महत्ता सर्वमान्य

सिद्ध हो जाती है। संदिग्ध चित्त दुर्गति को प्राप्त होता है। 'संशयात्मा विनश्यति'। सार्वभौम दृष्टि के अनुसार अल्पाधिक मात्रा में विश्वास सर्वत्र विद्यमान रहता है। जब विश्वास की मात्रा न्यून है, तब वह संशयाच्छन्न है। न्यूनता रहने पर भी उसके बीज की विद्यमानता नि:संदिग्ध है। अनुकूल स्थिति आने पर यही विश्वास बीज क्रमश: विकसित होने लगता है।

मनुष्य देह अत्यन्त दुर्लभ है। अनगिनत योनियों में परिभ्रमण के अनन्तर इस देवदुर्लभ नरदेह की प्राप्ति होती है। केवल मात्र इसी देह में पूर्ण भगवत् प्राप्ति संभव है। ऐसी परिस्थिति में यह असंदिग्ध है कि प्रत्येक मानव भगवत् प्राप्ति कर सकता है, यदि उसमें विश्वास का किंचित अंश अवश्य विद्यमान है। यद्यपि विश्वास का विषय अथवा लक्ष्य भिन्न हो सकता है तथापि विश्वासविहीन मनुष्य का अस्तित्व होना असंभव ही कहा जायेगा। सत्संग अथवा कृपा के प्रभाव से अन्तरस्थ विश्वास बीज का प्रस्फुटन होता है। वास्तव में सत्संगादि द्वारा कहीं बाहर से विश्वास नहीं आता, प्रत्युत् सत्संगादि के प्रभाव से मनुष्य सत्ता में बीजरूप से निहित विश्वास का अंकुरण होने लगता है। क्रमश: वह बाह्यत: व्यक्त होता है। विश्वास तत्त्व का विश्लेषण करने से यह तथ्य व्यक्त होता है कि एकमात्र अपने का, स्व का ही विश्वास किया जाता है। जिसे हम स्वात्मीय मानते हैं, उसका ही विश्वास करते हैं। अन्य को आत्मीय मानने पर विश्वास की जड़ में शिथिलता आ जाती है। हम व्यवहार जगत में भी आत्मा तथा अनात्मा शब्द का प्रयोग करते हैं। मूल में एक ही सत्ता है, तथापि जागतिक दृष्टिकोण हमें आत्म एवं अनात्म रूप विभाग के लिये विवश करता है। आत्मा ही अपना है, यथार्थ स्व है। आत्मा को अपना निजस्व मानना ही विश्वास है। यदि अनात्मा को आत्मा मान लिया जाये, तब यही अविश्वास है। वास्तव में अनात्मा रूप कुछ भी नहीं है। सर्वत्र आत्मदर्शन का विकास प्राप्त होने पर अनात्म भाव ही नहीं रह जाता। तब सब कुछ आत्मरूप ही प्रतीत होता है। यही है यथार्थ विश्वास।

विश्वास एवं अविश्वास की क्रीड़ा मन को लेकर होती है। मन ही विश्वास अथवा अविश्वास का निर्णय लेता है। मन को यथार्थ विश्वास के योग्य बनाना भी आवश्यक है। अत: मन को पुष्ट करना ही होगा। ध्यान की सफलता मन की पुष्टि पर आधारित रहती है। मन पुष्ट होता है परम वस्तु को पाकर! अन्य किसी भी उपाय से मन में पुष्टि का संचार नहीं हो सकता। सांसारिक तत्त्व एवं रस से जो पुष्टि होती है, वह सामायिक तृप्ति ही है। मन इस सामायिक पुष्टि से पुष्ट नहीं होता और कुछ ही समय के पश्चात् पुन: चंचलता का संचार होने लगता है। परम वस्तु से जो पुष्टि होती है, उससे मन अनन्त काल के लिये तृप्त हो जाताहै। उसमें स्थिरता तथा व्युत्थान रहितावस्था का संचार होने लगता है। वह परम शान्त होकर परमसत्ता से एकरसता को प्राप्त करता है। वह स्वभाव की धारा में गतिशील होने लगता है। यथोचित पुष्ट मन द्वारा साधना करने पर जड़ समाधि रूप विघ्न का अस्तित्व ही नहीं रहता। पुष्ट मन स्वयं को जानना चाहता है। परिणामत: उचित क्षण में वह स्वयं अपनी उपलब्धि करने में सक्षम हो जाता है।

परम सिद्धि की प्राप्ति के लिये ध्यान साधना की आवश्यकता को सभी स्वीकार करते हैं। यह सत्य है कि कोई-कोई महाभाग्यवान साधक ध्यान साधना अथवा आराधना के अभाव में ही चरमोत्कर्ष को प्राप्त करते हैं। यह फलप्राप्ति पूर्व जन्मार्जित कर्मों तथा साधना का प्रतिफल है। अहैतुकी कृपा से भी यह अवस्था प्राप्त हो सकती है। यह अलौकिक स्थिति इस प्रसंग में आलोच्य नहीं है। यहाँ क्रम मार्ग के दृष्टिकोण से विवेचना की जा रही है। अहैतुकी कृपा भगवान का स्वातंत्र्य है। वह विवेचना का विषय हो ही नहीं सकता। सामान्यत: सिद्धि प्राप्ति के लिये ध्यान साधना का ही आश्रय लेना होगा। साधना कभी व्यर्थ नहीं जाती। एक जन्म में फल प्रसवा न होने पर भी साधना का बीज संस्कार रूप में संरक्षित हो जाने के कारण, उसकी पुष्टि पर जन्मों में होने लगती है। कोई साधक कुछ ही समय में सिद्धि प्राप्त कर लेते हैं। इस स्थल पर भी पूर्व जन्मार्जित साधना इस जन्मार्जित साधना के साथ युक्त होकर त्वरित फल प्रदान करती है। इन सब अपवादों के होने पर भी समुचित रूप से ध्यान साधना का दीर्घकालीन अभ्यास करना आवश्यक है। जब तक लक्ष्यरूप प्रकाश की किरणों का आविर्भाव न हो, तब तक ध्यान साधना में व्यवधान नहीं पड़ना चाहिये। अखण्ड तैलधारारूप से ध्यान साधना सम्पन्न करते रहने से ही सिद्धि की प्राप्ति होती है। यहाँ समय अथवा काल परिमाण का विचार करना उचित नहीं है। काल की गणना बाह्य तत्त्व के रूप से होती है, तथापि वह आन्तरिक तत्त्व है। अत: यदि जिस कार्य की सिद्धि एक वर्ष में होती है, वही कार्य तीव्र वेग से करने पर १० माह में ही सम्पन्न हो सकता है। संवेग की तीव्रता के तारतम्य से काल की मात्रा भी घटने लगती है। अत: स्थूल दृष्टि से यह निर्णय लेना, कि किस ध्यान साधना द्वारा कितने समय में फल प्राप्ति होगी, असंभव है। साधक के प्राणभरे प्रयास के सम्मुख बाह्य काल को संकुचित होना पड़ता है। वस्तुत: काल एक ही है। उसमें बाह्याभ्यन्तर रूप विभेद की सत्ता ही नहीं है, परन्तु इस सूक्ष्मता का परिदर्शन महाज्ञानी सिद्ध ही करने में समर्थ होते हैं। वह क्या कारण है जिससे फल प्राप्ति अति शीघ्रता से हो रही हैं, यह ज्ञान सामान्य अवस्था में हो ही नहीं सकता। जिस कर्म से जिस फल का विकास होना अवश्यम्भावी है उस फल का उदय न होने तक, विश्वास एवं श्रद्धा के साथ ध्यानाभ्यास करते रहना चाहिये। सिद्धि अथवा फल की आकांक्षा को छोड़कर, क्रियमाण ध्यान साधन का अनुष्ठान गुरु परम्परा के अनुसार करते रहने से फल प्राप्ति संभव हो जाती है।

महायोगी पतंजलि के अनुसार दीर्घकाल पर्यन्त नैरन्तर्य तथा आदर के साथ ध्यान-साधना करते रहने से साधक का आधार दृढ़ होने लगता है। नैरन्तर्य का तात्पर्य है निरविच्छिन्न साधना। साधना की धारा में व्यवधान पड़ने पर, (आलस्य करने पर) प्रकृति का पर्दा साधन धारा के सम्मुख खड़ा होता है। साधना के प्रति श्रद्धा की न्यूनता भी व्यवधानकारिणी है। श्रद्धा एवं विश्वास का उदय ही सिद्धि का लक्षण है। 'श्रद्धावान् लभतेज्ञानम्' की उक्ति अक्षरश: सत्य है। श्रद्धा-विश्वास तथा दीर्घकालीन अध्यवसाय से आधार दृढ़ होता है। बौद्धों की दस पारमिताओं में वीर्यपारमिता की भी

गणना की जाती है। पंतजलि के अनुसार उपाय मार्ग में श्रद्धा के अनन्तर ही वीर्य की गणना की गयी है। वीर्य ही दृढ़ता है। सांसारिक प्रतिबन्ध, बाधा तथा विपर्यय में भी मन का लक्ष्य अखण्ड की ओर रहना चाहिये। इससे कभी-न-कभी अखण्ड का संस्पर्श मिल जाता है। संस्पर्श द्वारा क्षणार्ध काल में ही पूर्णत्व की प्राप्ति हो जाती है। इस स्थिति में काल परिणाम ही नहीं रहता। क्योंकि यह प्राप्ति काल द्वारा परिच्छिन्न नहीं है। यह क्षण कब कौन प्राप्त करेगा, यह निर्णय भी अव्यक्त रहता है। क्षण अपने आविर्भाव के साथ-साथ स्वयं को पूर्ण एवं अखण्ड रूप से प्रकाशित करता है। क्षणाविर्भाव ही परम तत्त्व का आविर्भाव है। यही है काल बन्धन का क्षय।

अनेक योगियों का अभिमत है कि ध्यान करते-करते मन का लय हो जाता है, जिसके पश्चात् अभ्यास करते-करते एक ऐसी स्थिति की प्राप्ति होती है, जहाँ चित्त समस्त आलम्बनों का त्याग करके निरालम्बावस्था में स्थित हो जाता है। ज्ञेय विषय के सम्पर्क से चित्त की परिवर्तित तथा परिणत दशा की प्राप्ति होती है। इस अवस्था में चित्त विषयों से रंजित होकर उस अवस्था को ग्रहण कर लेता है। इसे तदाकाराकारित अवस्था भी कहते हैं। यह रंजन प्रारम्भिक अवस्था में इन्द्रियों के माध्यम से होता है। परिणत दशा में इन्द्रियों की सहायता की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। विषय सम्पर्क से चित्त विक्षुब्ध होकर परिणामरूपी विषयाकार को प्राप्त होता है। यह विषयाकारिता ही चित्तवृत्तिरूप है। चित्त सदैव वृत्ति अवस्था में भी नहीं रह सकता। वृत्ति की निवृत्ति के साथ-साथ वृत्ति अपना रूप बदल कर संस्कार रूप वासना की आकृति धारण कर चित्त में बीजरूप से सन्निहित हो जाती है। अब वृत्तिरहित चित्त को संस्काररूपता प्राप्त होने लगती है। समय पर उद्दीपक कारण तथा वातावरण के सम्पर्क द्वारा इन संस्कारों का पुनर्जागरण होता है। अब संस्कार पुनः वृत्ति का रूप धारण करते हैं। इस कारण चित्त की स्थिरता नहीं हो सकती। चित्त परिणामशील होने के कारण सतत् चंचल बना रहता है। संस्कार अवस्था में भी चित्त का सूक्ष्म स्पन्दन विनिवृत्त नहीं होता। केवल मात्र आत्मस्वरूपावस्था ही निःस्पन्दावस्था है। यह संस्कारातीत है।

ध्यानावस्था में चित्त सूक्ष्म से सूक्ष्मतर, सूक्ष्मतम अवस्था का वरण करते हुए निवृत्तिगामी होने लगता है। जिस प्रकार स्थूल आलम्बन का आश्रय लेने पर चित्त में स्थूलत्व का संचार होता है, उसी प्रकार सूक्ष्म आलम्बन के प्रभाव से चित्त की अवस्था भी सूक्ष्म होने लगती है। समस्त स्थूल तथा सूक्ष्म आलम्बन ध्यान के ही विषयीभूत ग्राह्यवस्तु रूप हैं। वितर्कानुगत समाधि में अवयवी रूप स्थूल आलम्बन की विद्यमानता रहती है। तदनन्तर सूक्ष्म आलम्बन को ग्रहण करने पर समस्त सूक्ष्मतम तत्त्वों का भी प्रकाशन होने लगता है। प्रकृति के अन्तर्गत स्थित समस्त सूक्ष्म रूप ग्राह्यसत्ता साधक के समक्ष आत्मप्रकाश करने लगती है। समस्त स्थूल तथा समस्त सूक्ष्म क्या है? यह स्थूल सत्ता तथा सूक्ष्मसत्ता समाहित योगीगण के चित्त का स्थूल एवं सूक्ष्म रूप मात्र है। इसे आयत्त करने के पश्चात् करणरूपी आलम्बन का आश्रयण ले कर ध्यान का प्रवर्तन होने लगता है। यही ध्यान गाढ़ता की स्थिति में सानन्द

समाधि रूप हो जाता है। अब चित्त स्थूल एवं सूक्ष्म विषय समूह के मूल का भेदन करते-करते स्वयमेव ज्ञान के कारण रूप में प्रकट हो उठता है।

इस अवस्था में प्रज्ञा के समक्ष ज्ञेयरूपी पृथक् सत्ता का अस्तित्व नहीं रहता। चित्त अपने स्वरूप में, ज्ञाता के रूप में विश्रान्त हो जाता है। यह है सम्प्रज्ञात समाधि का उच्चतम शिखर। यहाँ 'मैं हूँ' रूप से प्रकाशमान सत्ता का बोधमात्र अवशिष्ट रह जाता है। अब बाह्यतः ग्राह्य की सत्ता नहीं रहती तथा करणरूपी ग्रहण प्रक्रिया भी अस्तमित हो जाती है। उभय का विलीनीकरण होता है चित्स्वरूप में। एकमात्र चित्त 'अस्ति' रूप में अपने आपमें विराजित हो जाता है। यह है विश्व की बीजावस्था। ज्ञानादि अनन्त विभूति समूह उस अणुरूप अस्मिता का आश्रय लेकर प्रकाशित होते हैं। यह अस्मिता सम्पूर्ण व्यक्त सृष्टि की केन्द्रबिन्दु रूपा है। चित्तैकाग्र्य वृत्ति का उदय होते ही इस केन्द्रबिन्दु में स्थिति प्राप्त हो जाती है। यह अस्मिता रूप ग्रंथि ही हृदयग्रंथि है। यद्यपि यह उच्चतम अवस्था है तथापि यह अवस्था भी अविवेक एवं अज्ञान का ही परिवर्तित रूप है। चित्त तथा अचित्तरूप मूल ग्रंथि का उच्छेदन हुए बिना चित्तवृत्ति के जाल से छूटकर संस्कार अवस्था में उन्नति हो सकना असंभव है। अस्मिता क्षेत्र में सर्वज्ञत्व तथा सर्वविषयक ज्ञान का उद्‌भव होता है।

अस्मिता का भी विनाश होना आवश्यक है। अस्मिता का विनाश जिस विवेकज्ञान द्वारा दिया ज़ाता है, वह विवेकज्ञान सर्वज्ञत्व से भी अतीत स्थिति है। इस अवस्था में चित्त क्रमिक रूप से निरोध की ओर अग्रसर होता रहता है। चित्त निवृत्ति की क्रमवृद्धि को ही विवेक ज्ञान का क्रमविकास कहा जा सकता है। इस क्रम विकास का पर्यवसान होता है विवेक ख्याति के अन्तिम क्षण में। अन्त में विवेकख्याति रूप महाख्याति का निरोध होते ही आत्मा गुणमुक्त होकर स्वस्वरूप में स्थिति प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि ध्यान की पूर्णता द्वारा ज्ञानोदय होता है। मन (चित्त) तब भी विद्यमान रहता है। तदनन्तर असम्प्रज्ञात समाधि में प्रज्ञा भी निरुद्ध दशा को प्राप्त करती है। अर्थात् ज्ञान के उदय से अज्ञान की निवृत्ति हो जाती है। अज्ञान की निवृत्ति के साथ-साथ ज्ञान भी निवृत्त हो जाता है। ज्ञान के निरोध क्षण में ही चित्त का अतिक्रमण होने लगता है। यह है आत्मस्वरूपावस्थान। अतः ध्यान से ज्ञान की प्राप्ति, ज्ञान द्वारा स्वरूपावस्थान—यह क्रम शास्त्रों में कहा गया है।

इस प्रणाली के अन्तर्गत चित्त का लय एक स्थिति मात्र है। जहाँ चित्त का लय स्वीकृत है, वहीं चित्त के व्युत्थान को भी स्वीकार करना ही होगा। भगवान के परमधाम में (आत्मस्वरूप में) स्थिति प्राप्ति हो जाने पर व्युत्थान की सत्ता ही समाप्त हो जाती है। यही शास्त्र का सिद्धान्त है। गीता के इसी तथ्य का प्रतिपादन किया गया है—

यद्‌गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धामपरमंमम।

अतः चित्त के लय की इच्छा करना उचित नहीं है। ज्ञान के उदय के साथ-साथ चित्त स्वतः निरुद्ध हो जाता है। लय अवस्था में निरुद्ध स्थिति नहीं है, उसमें मानो चित्त दब सा जाता है। अतः चित्तस्थ अज्ञान तता अनर्थक्रम यथावत् रह जाता है। इस कारण

लयावस्था को विहित नहीं माना जाता। ज्ञानोदय पर चित्त की स्थिति दग्ध वस्त्र जैसी हो जाती है। अतः ज्ञान ही वांछित हैं। ज्ञानोदय के साथ-साथ मन रहने पर भी नहीं रह जाता। मन की लयावस्था में ऐसा नहीं होता, प्रत्युत् वह पुनरपि व्युत्थित हो जाता है। अतः विक्षेप के समान यह भी अन्तराय रूप विघ्न ही है। गौड़पादाचार्य कहते हैं—

लये सम्बोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत् पुनः ।
स कषायं विजानीयात् शमप्राप्तं न चालयेत् ॥

चित्त को सतत् जाग्रत रखना होगा। एकमात्र विवेक ज्ञान से ही चित्त में चेतनता आती है।

ज्ञानी योगीजन इस तथ्य को जानते हैं कि चित्तावस्था रहने पर भी, न रहने के समान बनाई जा सकती है और चित्तावस्था के न रहने पर भी समस्त कार्य सम्पादित होते रहते हैं। अतः बौद्धों ने अर्हत जीवन्मुक्तों के चित्त को मात्र क्रियाचित्त माना है। यह अत्यन्त उच्चावस्था है। अर्हत् की पूर्वावस्था है अनागामी। इसमें भी क्रियाचित्तोदय नहीं हो सकता। बुद्धगण क्रियाचित्त को माध्यम बनाकर उपदेश देते हैं। क्रिया चित्त का तात्पर्य यह है कि चित्त में क्रिया तो है, तथापि उसका विपाक नहीं हो रहा है। जब तक चित्तान्तर्गत कुशल एवं अकुशल (भले एवं बुरे) संस्कारों की सत्ता रहती है, तब तक क्रिया विपाक को जन्म देती रहती है। कर्मबीज अंकुरित होते तथा वृद्धि प्राप्त करते रहते हैं। चित्त में तृष्णा का संस्कार अति सूक्ष्मरूपेण विद्यमान रहता है। इसी का परिणाम है अनुरूप फल का विपाक। जब रागाग्नि के नाश के साथ चित्त का अनुशय (तृष्णा) दग्ध हो जाता है, तब उस चित्त में क्रिया रहने पर भी शुभाशुभ फलों का सृजन नहीं होता। यह चित्त होकर भी अचित्त ही है। यही मनोनाश का यथार्थ रूप है।

शुद्ध चित्त के अपने आप ध्यानोन्मुख होने पर ही ध्यान होता है। स्वाभाविकी ध्यानावस्था इसे ही कहते हैं। इस अवस्था का उदय होने पर प्रयत्नपूर्वक ध्यान नहीं करना होता। चित्त स्वतः ध्यानमग्न होने लगता है। जैसे निद्रा के आगमन के साथ-साथ, बिना प्रयत्न किये ही समस्त इन्द्रिय समूह अपने विषयों से हट जाते हैं वैसे ही स्वाभाविक ध्यान के समय अन्तर्मुखता का संचार स्वयमेव होने लगता है। निद्रा न आने पर भी निद्रामग्न होना कष्टसाध्य तथा प्रयत्नसाध्य एवं समय सापेक्ष है। ध्यान के सम्बन्ध में भी यही नियम प्रयुक्त होता है। स्वाभाविक उन्मुख दशा के बिना यथार्थ ध्यान नहीं हो सकता, तथापि अस्वाभाविक होने पर भी कृत्रिम उपाय का सहाय्य लेना आवश्यक है। कृत्रिम उपाय ही सर्वमान्य उपाय है। पंतजलि के मतानुसार समाधियोग तथा क्रियायोग रूप से योग द्विविध होता है। व्युत्थित चित्त बहिर्मुख साधक को क्रियायोग करना विहित है। जो अन्तर्मुख है तथा समाधि चेष्ठावान है उसके ही लिये समाधि योग का विधान किया जाता है।

✤

मन

मन का प्राप्तव्य है आनन्द। इसी स्थायी आनन्द की प्राप्ति के लिए वह विषय-विषयान्तर में दौड़ता रहता है। विषयों से स्थायी आनन्द की प्राप्ति नहीं होती। आस्वादन में नवीनता नहीं रह जाती। अतः नवीन आनन्द की प्राप्ति के लिए पुनः अन्वेषण तथा कर्म करना पड़ता है। यही है मन की चंचलता का प्रधान कारण। चंचलता के कारण मन की तृप्ति नहीं होती। मन को शान्त करने हेतु उसे स्थायी आनन्द की झलक दिखाना परमावश्यक है। स्थायी आनन्द की प्राप्ति होते ही मन समाहित होता है और आत्मस्वरूप में विश्रान्त हो जाता है। मन का स्वभाव है कल्पना करना या कल्पित नानात्व के साथ क्रीड़ा करना। अतः इसका समाधान यह है कि वस्तुतः नानात्व है ही नहीं, जो कुछ है वह 'एक' है। इस 'एक' का साक्षात्कार हो जाने पर सर्वत्र इस 'एक' का ही दर्शन होने लगता है। अब भेद का इन्द्रजाल द्रष्टा को मुग्ध अथवा विभ्रान्त नहीं कर सकता। इस स्थिति में मन जहाँ कहीं क्यों न दौड़े, सर्वत्र उसे 'एक' का ही दर्शन प्राप्त होगा। वह जहाँ कहीं भी जाने पर सर्वत्र उस 'एक' को ही पाता है और उसमें लीन होने लगता है। वह सर्वत्र जगन्माता को देखता है और उनसे निर्मल अमृत रस का पान करता है। यह संसार ही उसका समाधान तथा आनन्द धाम रूप समाधि होने लगता है। उक्त है—

यत्र यत्र मनो याति तत्र तत्र समाधयः

इस अवस्था में अवनि, आकाश, अनल, अनिल तथा अम्बु एवं शत्रु-मित्रादि भी उस 'एक' के लीलाविलास रूप अभिव्यक्त होते है।

यह एक सदा एवं सर्वत्र विद्यमान होने पर भी सबको भासमान नहीं होता। जब जब जिस समय जिसके निकट जहाँ भासित होता है, उस समय वहीं पर उसका मन विश्रान्त होने लगता है। शान्त मनःस्थिति में जहाँ पर ध्यान हुआ, वहीं पर उसकी एकाग्रस्थिति होने लगती है। धारक मन की योग्यता के तारतम्य से देशगत एवं कालगत भेद भासित होता है। एक बार मन की एकाग्रता हो जाने पर योग्यता के तारतम्य की स्थिति समाप्त हो जाती है, क्योंकि अब वह 'एक' है, एक था और एक रहेगा। इस 'एक' के अतिरिक्त सब कुछ मन की ही वंचना है। अनन्त में भी 'एक' ही भासमान है। यह 'एक' सत्ता नाना प्रकार से सर्वकाल में प्रकाशित होती रहती है। मन की एकाग्रता में 'एक' का आविर्भाव होने के अनन्तर मन के द्वारा कल्पित नानात्व का तिरोधान हो जाता है। अथच सब कुछ रहता है उस 'एक' के लीलामय आत्मप्रकाश रूप में। अब ज्ञात होता है कि यह 'एक' सबका कारण है। उसी से सब कुछ सृष्ट होता है। यही है महाज्ञान। इस अवस्था में प्रकाश-अप्रकाश, स्थिति-गति, अनन्त प्रकार के विरुद्ध धर्म इस महान् ऐक्य में ही समन्वित हो जाते हैं। अतः एक ही अनन्त है, अनन्त ही एक है।

दृष्टि के खुलने के अनन्तर ज्ञात होता है कि स्वयं ही गुरु है, स्वयं ही शिष्य है, स्वयं ही सब एवं अनन्त है। स्वयं ही अकेला या अद्वितीय भी है। उभय अवस्था में कोई भेद नहीं है। स्वयं ही मृत्यु है, स्वयं जीवन रूप अमृत भी है। मृत्यु अथवा अमृत उस एक का ही प्रकाश रूप प्रतीत होने लगता है। वही देह है, वही मन है। एकमात्र 'स्व' ही स्थिति है। यहाँ अन्य कोई प्रतीति ही नहीं है। मलिक मुहम्मद जायसी कहते हैं—

आपु हि गुरु सो आप हि चेला ।
आपु हि सब और आपु अकेला ॥
आपु हि मीच जियन पुन, आपुहि तन मन सोई ।
आपुहि आपु करे सो चाहे, कहाँ सो दूसर कोई ॥

✡ ✡ ✡

मन का विकास हो जाने पर भी शरीर की सत्ता रहती है। देह ज्ञान का बाधक नहीं है। जीवन मुक्त पुरुष देहावस्थान काल में ही उपदेश देते हैं। उनके मन की कार्यकारिता समाप्त है। त्रिपुटी भी विश्रान्त है, इसी कारण उन्हें उपदेशाधिकार प्राप्त है। इसके अतिरिक्त महाज्ञान में देह रहे अँथवा न रहे, इसका कोई प्रश्न ही नहीं रहता। 'तत्त्वशुद्धिकार' आचार्य ज्ञानधन के मतानुसार ब्रह्मभाव का साक्षात्कार होने पर ही गुरुपद प्राप्त हो सकता है। ब्रह्म अपरोक्ष तथा एकरस रूप है। उसका परोक्ष ज्ञान पूर्ण भ्रम है। कारण यह है कि जिसे परोक्ष ज्ञान प्राप्त है वह भ्रान्त ज्ञानयुक्त है। भ्रान्त ज्ञानयुक्त व्यक्ति तत्त्वज्ञानोपदेश देने का अधिकारी ही नहीं है। उपासना द्वारा सोपाधिक ब्रह्म का साक्षात्कार करने वाले ब्रह्मविद्या के उपदेशक हो ही नहीं सकते। शब्द प्रमाण से उत्पन्न अपरोक्ष ज्ञान की प्राप्ति होने पर ही गुरुपद प्राप्त होता है। प्रमाण के द्वारा वस्तु-तत्त्व का साक्षात्कार कर लेने के पश्चात् अज्ञान की सत्ता ही नहीं रह जाती। यद्यपि अज्ञान दग्ध हो जाता है, तथापि किंचित् कालपर्यन्त वह जले वस्त्र के समान सत्तायुक्त प्रतीत होता है। अविद्या तथा उसके कार्य अज्ञान के दग्ध हो जाने पर कार्य कारण तो दग्ध प्रतीत होगा तथापि आत्म रूप का दर्शन नहीं मिलता। अतः अविद्याजन्य जाग्रत स्वप्न तथा सुषुप्ति रूप अवस्थाओं से ज्ञान का सम्बन्ध ही नहीं है।

अन्य मतानुसार जीवनमुक्त अवस्था में भी पूर्ण रूपेण मन निवृत्त नहीं होता। जब तक शरीर की स्थिति रहती है, तब तक मन का संस्कार युक्त रहता है। इनके मत से मन के अभाव में देहपात (मृत्यु) अवश्यम्भावी है। अर्थात किंचित अविद्या लेश रह जाता है। तीव्र ज्ञान से ही मन का संस्कार दग्ध हो सकता है। आचार्य शंकर का कथन है कि जीवन्मुक्ति में भी प्रारब्ध अवशिष्ट रहता है। जीवन्मुक्ति साधक अवस्था नहीं है। वह सिद्धावस्था है। आचार्य ज्ञानघन के मत से वेग का क्षय होने तक प्रारब्ध की सत्ता रहती है। संस्कार अथवा अज्ञान का तनिक लेश रहने के कारण जीवन्मुक्तावस्था में देह और इन्द्रियाँ प्रतिभात होती है। मण्डन मिश्र शंकर के मत को नहीं मानते। सामान्यतः बाण छोड़ देने के पश्चात् हाथ से छूटने पर नहीं रोका जा सकता। अर्थात् जिसने चलाया है, वह नहीं रोक सकता। छोड़ने के पूर्व उसे अवश्य

रोक सकते हैं। प्रारब्ध कर्म हाथ से छोड़े गये बाण के समान है। भोग के अतिरिक्त उसका क्षय हो ही नहीं सकता। मण्डन मिश्र कहते हैं कि छोड़े गये बाण को भी रोका जा सकना संभव है। यदि बीच में प्राचीर खड़ी कर दें, अथवा उसे रोकने वाले अन्य बाण का प्रयोग विपरीत दिशा से हो। मण्डन मिश्र का कथन है कि स्थितप्रज्ञ पुरुष साधक कोटि के अन्तर्गत परिगणित होते हैं। वे सिद्ध श्रेणी में नहीं आते। जीवन्मुक्त शरीर छूटते ही मुक्त होता है। उससे पूर्व मुक्त नहीं हो सकता। अतएव मृत्युपर्यन्त किंचित् अविद्या संस्कार अवस्थित रहता है। अविद्या संस्कार का लेश रहने पर भी, जीवन्मुक्त भोग अथवा बन्धनाधीन नहीं हो सकता। प्रारब्ध कर्म अपना फल दे सकते हैं। प्रारब्ध कर्म द्वारा सत्यज्ञान का नाश हो ही नहीं सकता। सत्यज्ञान की स्थिति में संचित तथा अनागत कर्म विनष्ट हो जाते हैं। प्रारब्ध कर्म शेष रहने पर भी क्षति नहीं होती। सर्वज्ञात्म मुनि के अनुसार जीवन्मुक्त नामक अवस्था हो ही नहीं सकती। यह अर्थवाद मात्र है। साधक की उत्साह वृद्धि के लिये जीवन्मुक्ति का उपदेश दिया जाता है। वेदान्त परिभाषाकार के मतानुसार जीवन्मुक्ति तो मुक्ति ही नहीं है। कारण यह है कि मुक्ति की हेतु रूप विद्या इसमें पूर्णरूपेण नहीं है। यह अवश्य है कि साधन स्थिति परिसमाप्त हो चुकी है। इसमें मुक्ति भी आसन्न है। अतः इसे मुक्तिपद कहा जाता है। वेदान्तियों के अनुसार जीवन्मुक्ति मै कोई कर्म शेष नहीं रहता, अर्थात प्रारब्ध भी नहीं रहता। इनके मतानुसार जीवन्मुक्ति सिद्धावस्था है।

अब क्रिया तथा मन की दिशायें विवेच्य है। कहा जाता है कि क्रिया तथा मन की दो भिन्न-भिन्न दिशायें हैं। दोनों दिशायें सहगामिनी रहती हैं। दोनों के मध्य तारतम्य भी रहता है। किसी अवस्था में क्रिया की प्रधानता रहती है, किसी अवस्था में मन प्रधान रहता है। यह स्थिति मनुष्य की प्रकृति के अनुसार नियंत्रित होती है। कभी-कभी स्वभाव की गति में पड़ने पर आसनादि प्रक्रिया स्वयमेव होने लगती है। यह क्रिया प्रधानता की दिशारूप है। जब मंत्र आदि का आविर्भाव होने लगे, तब समझना चाहिये कि यह मन प्रधान दिशा है। जो भीतर रहकर इस प्रकार की स्वभाव की गति का संचालन करते हैं, वे ही अन्तर्गुरु हैं।

इस प्रसंग में संस्कार की चर्चा अनेक स्थल पर की गयी है। संस्कार अर्थात् भाव अथवा पदार्थ की एक सूक्ष्म छाप। यह अंकन होता है मन पर। अनुभव या क्रियारूपी अवस्था में संस्कार उत्थित होते हैं। अनेक संस्कार उत्थित होकर स्मृति रूप हो जाते हैं। अपर संस्कार हृदय में सुख-दुःख का अनुभव कराते हैं। अतः विद्वानों ने वासना और कर्माशय के भेद से इन संस्कारों का वर्गीकरण किया है। सभी संस्कारों का उत्पत्ति स्थान तथा विकास स्थान अन्तःकरण ही है। आत्मा में संस्कार रह ही नहीं सकते। मन से अतीत जाने पर भी संस्कारों की सत्ता नहीं रह जाती।

✤

लीला

भगवान निरन्तर अपने आप के साथ क्रीड़ा करते हैं। वे नित्य रूप हैं अतः उनकी लीला भी नित्य है। अज्ञान की क्रिया रहने पर अर्थात् जब तक व्यक्ति में अज्ञान की प्रक्रिया चल रही है, तब तक वह नित्य लीला की कल्पना भी नहीं कर सकता। अतः सर्वप्रथम अद्वैत स्थिति में बोध को स्थिर करना आवश्यक है। इस अवस्था में यह ज्ञात होता है कि भगवान ही नाना रूपों को धारण करते हैं और स्वयं क्रीड़ारत रहते हैं। वह स्वयं अनन्त रूपों को धारण करते हुए द्वैत को स्वीकार करते हैं तथा तदनुरूप रस का आस्वादन करते रहते हैं। वे ही भोक्ता हैं, वे ही भोग्य हैं तथा वे ही भोग वस्तु रूप से भी विद्यमान है। वहां द्वितीय की सत्ता ही नहीं है। तथापि अनन्त आकारों को धारण करके द्वितीय का नाटक भी उन्होंने ही रचा है। यह कृत्रिम अनन्त आकार वास्तव में 'एकमेवाद्वितीयम्' ही है। अद्वैत की एक दिशा होती है। अद्वैत लीलातीत, निरजंन तथा निष्क्रिय है। वहाँ किसी शक्ति की क्रिया नहीं है। पृथक् रूपेण शक्ति की सत्ता भी वहां कार्यरत नहीं रह सकती। समस्त शक्ति समूह उसी में अन्तर्लीन हैं। भगवान स्वयं अपने आप में मग्न हैं, सुषुप्त हैं। वे स्वयं प्रकाश अथवा अप्रकाश भी हैं। वह निरन्तर लीलामग्न तथा सक्रिय हैं। उभय ही नित्य तथा उभय ही सत्य भी है। अद्वैत तथा द्वैत, एकरूपता तथा बहुरूपता भी नित्य तथा सत्य है। इसका कारण यह है कि अखण्ड में खण्ड अथवा विभाग की कल्पना ही नहीं की जा सकती। भगवान अनन्त शक्ति सम्पन्न हैं, अतः उनकी लीलायें भी अनन्त हैं। समस्त लीलायें स्वरूपतः चिन्मयी, आनन्दमयी तथा अप्राकृत रूपा रहती हैं। लीला अविद्यातीत तत्त्व है अतः अप्राकृत भी है। भगवान की क्रियाओं की इयत्ता नहीं। क्योंकि वे अद्वय होने पर भी अनन्त हैं। वे रसरूप से एक एवं अद्वय है तथापि अनन्त होने के कारण उनके रसास्वादन के वैचित्र्य का कोई अन्त ही नहीं है। लीला में न तो कोई संकोच होता है और न विभाग की ही सत्ता रहती है। द्वन्द्व एवं अज्ञान की परिकल्पना भी नहीं हैं। लीला में द्वन्द्व तथा अज्ञानादि का अस्तित्व प्रतीत होने पर भी वह सब लीलांग बन जाता है। अतः लीला में नियोजित द्वन्द्व तथा अज्ञानादि की स्थिति चिन्मय, अप्राकृत तथा आनन्दयुक्त हो जाती है। रसास्वादन के अभिप्राय से लीलामंच पर उसका अभिनय होता है।

प्रत्यभिग्याहृदय में कहा गया है 'स्वेच्छया स्वभितौ विश्वमुन्मीलयति' अर्थात् वे स्वयं अपने को निमित्त बनाकर उसमें अपने से अभिन्न रूप में नित्यस्थान स्थित विश्व को भिन्नतः प्रकट करते हैं। यहाँ उनकी इच्छा रूपी स्वातंत्र्य शक्ति ही विश्व रचनालीला का कारण है। यहाँ जो कुछ भी हैं सबके निमित्त तथा उपादन रूप भगवान ही हैं। वे ही कर्त्ता हैं, करण, कर्म, देश, काल आदि भी वे ही हैं। क्रिया उन्हीं का रूप हैं। वे स्वयं तो नाना रूपों से क्रीड़ारत हैं तथा लीलामयता में

एकाकार रहने पर भी वे लीलातीत भी हैं। वे विश्वातीत हैं। वे विश्वमय हैं, परमानन्दमय धनीभूत प्रकाश स्वरूपता भी उनमें विद्यमान रहती है। सब कुछ उन्हीं में अभिन्नरूपेण स्फुरित हो रहा है। वे ही ज्ञेय हैं। वे ही अनन्त विचित्रताओं के साथ सर्वदा तथा सर्वत्र प्रकाशमान हैं। उक्त हैं—"तस्यपुनर्विश्वोत्तीर्ण—विश्वात्मक—परमानन्दमय—प्रकाशैकधनस्य एवंविध मेवाखिलम् अभेदे नैव स्फुरति। न तु वस्तुतः अन्यत् किंचिद् ग्राह्यं ग्राहके वा अपितु स एवं इत्थं नानावैचित्र्यसहस्त्रैः स्फुरति।"

नित्यलीला चिन्मय राज्य में होती है। प्रकृति राज्य त्रिगुणमयी प्रकृति का विकार कहा जाता है। प्रकृति राज्य रूप विश्व जड़ तथा अचेतन है। इस राज्य में क्रम हैं। क्रम अपना आत्मप्रकाश करता है, देश-काल के अन्दर पूर्वापर रूप से। चिन्मय राज्य में पूर्वापर भाव नहीं है। अतः वह अप्राकृत भगवद्धाम ही है। वहाँ केवल एक वस्तु है। वह वस्तु एकमात्र है। द्वितीय की सत्ता ही वहाँ नहीं रहती। वह एकमात्र है तथापि नानात्व रहित है। यह नानात्व लौकिक नानात्व कदापि नहीं कहा जा सकता। जगत रूपी नानात्व में दुख है, उसी प्रकार धाम में भी दुःख है। भगवद् धाम का दुःख रसमय विरह का एक रूप है। चिन्मय राज्य में विरह आनन्द की आकृति ग्रहण कर लेता है। यहाँ पर यह विचित्रता है कि यह विरह सामान्य विरह रूपी नहीं है, प्रत्युत् इस विरह का कभी भी अन्त नहीं होता। इस विरह में ही नूतन प्रकाशमानता झलकती रहती है। नित्य नूतन लीला इसी विरह का प्रारूप है। अतः इस विरह का अन्त ही नहीं होता। पूर्ण प्राप्ति के वक्षःस्थल पर यह विरह झलकता रहता है। विचारवान व्यक्ति के समक्ष स्थिति की दो अवस्था प्रकाशित होती है। प्रथम है स्वयं रूप (अहं) द्वितीय है इसी स्वयंरूप का मूर्त विग्रह। प्रथम अवस्था को अव्यक्तावस्था कहा जाता है। द्वितीयावस्था ही व्यक्तावस्था है। नित्य भगवद्धाम में इन दोनों अवस्थाओं की विद्यमानता रहती है। नित्य धाम इसी को कहा जाता है। यही वृन्दावन है। यह नित्य वृन्दावन हृदय में सीमाहीन रूप से प्रकाशित होकर अप्राकृत नित्य वृन्दावन का रूप धारण करने लगता है। इस स्थिति में प्राकृत-अप्राकृत का भेद पूर्णतः उच्छिन्न हो जाता है।

लीला में आकार, देह, धाम, कालभेद, अनन्त भाव तथा तद्नुरूप क्रिया तथा गुणगत तारतम्य को स्वीकार करना पड़ता है। अद्वैतवादी गण लीला को मायिक मानते हैं। कालातीत चित्स्वरूप में क्रिया की सत्ता नहीं रहती, अतः वहाँ भेद की सत्ता ही नहीं रहती। यद्यपि चित्ताकर्षण के लिये भागवती लीला का महत्त्व स्वीकार किया जाता है तथापि अद्वैतवादियों के मतानुसार परमसत्ता रूप अद्वैत में स्थिति होने पर लीला का अतिक्रमण हो जाता है। कारण यह है कि मायातिक्रमण के साथ ही निष्क्रिय सत्ता में स्थिति हो जाती है। लीला की उपयोगिता स्वीकार करने पर भी अद्वैतवादी आचार्य लीला की पारमार्थिकता को नहीं मानते। यह एक देशीय विचारधारा ही है। माया त्रिगुणात्मिका है, उसमें सत्त्व के साथ रजः एवं तमः का

मिश्रण रहता है। सत्त्वगुण की प्रबलता होने पर भी तमः एवं रजः का सर्वथा अभाव नहीं हो जाता। प्रकृति में तीनों गुण परस्परतः अनुस्यूत रहते हैं। भागवत् लीला त्रिगुणातीत तथा प्रकृति से परे होती है। यद्यपि यह गुण की ही क्रीड़ा है, तथापि यह विशुद्ध सत्त्वगुण का खेल है। इसमें रजः तमः का किंचित् लेश भी नहीं रह जाता। यह विशुद्ध सत्त्वगुण भगवान का उपाधिरूप है भगवान के अतिरिक्त, जिन महाभाग्यवान साधकों ने इस लीला में प्रवेश प्राप्त किया है, उनकी भी उपाधि शुद्ध सत्त्वगुण है। श्री भगवान का विग्रह तथा भक्तों की सत्ता भी इसी शुद्ध सत्त्व से गठित होती है। श्री भगवान का श्री विग्रह अनादि विशुद्ध सत्त्वमय कहा गया है, उनके भक्तों का विग्रह शुद्ध सत्त्व से गठित होने पर भी सादि है तथापि अनन्तरूप है। त्रिपादविभूतिस्वरूप अनन्त भगवत्धाम सत्यमय होने के कारण सदा चिदानन्द से ओत-प्रोत रहता है। काल परिणाम, अविद्या प्रकोप, मायादृष्टि एवं बहिर्मुखी वृत्ति का उल्लास यहाँ नहीं रहता। यह अवस्था द्वैत दृष्टि तथा अद्वैत दृष्टि सम्पन्न भक्तों के लिये एक ही प्रकार से साक्षात्कृत होती है। द्वैत दृष्टि का यह लीलारस संभोग प्रेम लक्षण भक्ति का आभासमात्र है। इसका कारण यह है कि भक्ति नित्य नहीं है। यह भक्ति अन्त में महाज्ञान में पर्यवसित होती है। इसके साथ निष्क्रिय, निर्गुण, निष्काम, निराकार ब्रह्मसत्ता से एकीकरण होता है। इस एकीकरण की भी एक दिशा है। उस दिशा को हृदयंगम करने पर जो भगवान के पूर्ण अनुग्रह से पूर्ण सत्ता में प्रतिष्ठित होते है, वे एक अद्वैत सत्ता में स्थित रहने पर भी लीला के कारण स्वयं को अनन्त रूपों में प्रकट करने में समर्थ होते हैं। वे उन अनन्त प्रकार के वैचित्र्यमय प्रकाश का रसास्वादन भी करने के अधिकारी बन जाते हैं।

लीला प्रसंग में अवतार तत्त्व का महत्त्व सर्वमान्य तथ्य है। हमारे देश की तरह ईसाई समाज में भी अवतारवाद को स्वीकारा गया है। अवतार का अर्थ है भगवत् शक्ति का अवतरण। त्रिकायवादी महायान धारा में निर्माणकाय ही अवतारवाद का प्रमाण है। उत्क्रमण तथा अवतारवाद को सभी धर्मों ने प्रकारान्तर से मान्यता प्रदान की है। हमारे यहाँ देवयान गति उत्क्रमण का जाग्रत उदाहरण है। ज्ञानीजन प्राब्धकर्म के अन्त में देहत्याग काल में सुषुम्णा का आधार-ग्रहण कर ब्रह्मरंध्र भेदन करते हुये सूर्यकिरण की सहायता से सूर्यमण्डल का भेदन करते हैं। उनकी गति विरजा नदी पर्यन्त हो जाती है। यह है प्रकृत जड़ जगत से चित् सत्ता की मुक्ति। तदनन्तर परमव्योम में स्थित वैकुण्ठादि में गति प्राप्त होती है। अवतारवाद तथा उत्क्रमण, दोनों में ही उर्ध्वारोहण तथा अवतरण की सत्ता रहती है। अतएव एक ऐसी भी स्थिति है, जहाँ देहगत एवं अवस्थागत भेद के कारण आरोहण तथा अवरोहण की सत्ता अनुभूत होती है। अवतरण काल में कारण जगत अथवा महाकारण जगत से कार्य जगत् में शक्ति उतरने लगती है। दूसरी ओर कार्य क्षेत्र से अपना व्यापार सम्पन्न करने के अनन्तर शक्ति का आरोहण कारण अथवा महाकारण जगत की ओर होने लगता है।

यद्यपि आरोहण तथा अवरोहण की गति सत्य है तथापि एक ऐसी भी स्थिति है जहाँ यह गति अस्तमित हो जाती है। इसे परिपूर्ण परम स्थिति कहते हैं। देह की स्थिति रहने पर देह की गति की उक्ति सार्थक है, परन्तु जहाँ देह की कोई सत्ता ही नहीं है, वहाँ आरोहण तथा अवरोहण कैसा? अखण्ड में देशकालादि तथा आकारादि सीमा को खोजकर भी प्राप्त कर सकना दुष्कर है। यह सत्ता निरवच्छिन्न है। किसी विशिष्ट देश, काल अथवा आकृति की सीमा में न होकर भी, प्रत्येक में विद्यमान रहती है। अतएव अवतरणादि भी सत्य है तथा अवतरणादि न होना भी सत्य है।

यह सब ज्ञानचर्चा ही है। वास्तव में परमसत्त्व को प्राप्त करने, उनका लीला परिकर बनने का सौभाग्य प्राप्त करने की व्याकुलता अपने अस्तित्त्व की व्याकुलता है। उन्हें प्राप्त करने के अनन्तर व्याकुलता का अस्तित्त्व विलीन हो जाता है।

✤

कर्म

गीता में कर्म की महिमा का गायन करते हुये इसे कर्मयोग रूप से योग की संज्ञा प्रदान की गयी है। कर्म दो प्रकार से किये जा सकते हैं। फलाकांक्षा से प्रेरित होकर अथवा सेवा की इच्छा से। प्रथम कर्म को कर्मभोग कहा जाता है। उस स्तर में प्रतिष्ठा आदि कर्मफलों को कर्त्ता भोग रूप में ग्रहण करता है। कर्म करते समय उसके अन्दर फलाकांक्षा विद्यमान रहती है। द्वितीय प्रकार का कर्म ही कर्मयोग है। इस स्तर में सेवा भाव द्वारा प्रेरणा प्राप्त होती है। अर्थात् परमेश्वर जो करना चाहें, करा लें। यह शरीर उनका यंत्र है। वे इसे जैसे चाहे चलायें। यह कर्म मनुष्य को मुक्ति की ओर गति प्रदान करता है। यह कर्म परमेश्वर से युक्त अवस्था में ही सम्पादित होता है। इसमें शोक, ताप, दु:ख आदि के लिये स्थान ही नहीं रहता। यही कर्म पूर्ण स्वरूप से संयुक्त होता रहता है। यह त्रुटिरहित कर्म है, क्योंकि इसमें कर्तृत्वाभिमान का अत्यन्ताभाव है। गीता में 'योगस्थ: कुरु कर्माणि' रूप से ऐसे ही कर्म का उपदेश प्रदत्त है। इस कर्मानुष्ठान में यह सावधानी रहे कि अपने ओर से कर्तृत्वाभिमान जनित त्रुटि न हो।

जब तक स्वरूपावस्था का साक्षात्कार नहीं होता, तब तक कर्म करना ही होगा। बिना किये छुटकारा ही नहीं है। प्रकृति कर्मरूपा है। देह, प्राण, मन आदि प्रकृति के ही कार्य विशेष हैं। अत: आत्मा का प्रकृति सम्बन्ध मुक्त न होने तक कर्म से छुटकारा कैसे मिलेगा? कर्म के अनेक भेद हैं। कर्त्ता के अधिकार एवं योग्यता भेद से कर्म के भी भेद हैं। अधिकार तथा योग्यता के अनुसार कर्म की व्यवस्था की जाती है। सकाम कर्म की बात ही क्या, निष्काम कर्म भी अभाव का कर्म है। अत: निष्काम कर्म को आत्मदर्शन की पूर्वावस्था कहते हैं। तप, स्वाध्याय, ईश्वर प्रणिधान, योग के अष्टांग, उपासना, भजन, साधन, अन्तर्योग, बहि:योग, ज्ञानमार्ग, नैतिकता, लौकिक व्यवहार आदि सब कर्मान्तर्गत ही हैं। यद्यपि उक्त सभी कर्म वैविध्यपूर्ण हैं अनुष्ठान भेद, अधिकार भेद एवं लक्ष्य भेद के कारण पृथक प्रतीत होते हैं, तथापि सभी कर्मों के मूल में अपरोक्ष आत्मसाक्षात्कार का अभाव विद्यमान रहता है। फलाकांक्षा से रहित निष्काम कर्म भी स्वभाव की अनुल्लंघनीयता के कारण फल उत्पन्न करता है अर्थात् निष्काम कर्म का भी फल अवश्य होता है। कर्म करने वाला इस फल को स्वीकार करने के लिये विवश है। उसे निष्काम कर्म के फल को स्वीकार करना ही पड़ता है। चित्तशुद्धि तथा भगवान् की प्रसन्नता ही निष्काम कर्म का फल है। फल की ओर दृष्टि न रहने पर भी जगत के नियम के प्रभाव से फलोदय होता है तथा इसका कर्त्ता को भोग करना ही पड़ता है।

साधारण सकाम कर्म के मूल में मलिन वासना ही कारण है। ऐहिक अथवा पारलौकिक सिद्धि के उद्देश्य से किया गया महान् पुण्यकृत्य भी सकाम कर्म की

श्रेणी के अन्तर्गत है। गुरु पर निर्भर रहना तथा उनकी आज्ञा का पालन करना भी सकाम कर्म ही है। यहाँ यह अवश्य है कि यह सकाम कर्म विशुद्ध कर्म है क्योंकि यहाँ गुरु की इच्छा पूर्ण करना ही वासना रूप है। यह वासना होने पर भी वरेण्य है। अनेक विद्वानों का मत है कि आत्मदर्शन के बिना निष्काम कर्म नहीं होता। यह मत सार्वभौम मत नहीं हो सकता, क्योंकि आत्मदर्शन होने पर सकाम अथवा निष्काम कर्म समूह की परिसमाप्ति हो जाती है। आत्मदर्शन द्वन्द्व से अतीत स्थिति है। कर्म द्वन्द्वावस्था के अभाव में हो ही नहीं सकता। आत्मस्वरूपावस्था में न तो द्वन्द्व है और न कर्म। उस अवस्था में केवल मात्र आत्मा की ही सत्ता अवशिष्ट रहती है। गुरु, शिष्य, गुरु की प्रीति तथा कर्म, सब कुछ आत्मरूप में विलीन हो जाते हैं। अतः जबतक इन सबकी पृथक् सत्ता प्रतिभात होती रहती है, तब तक वास्तविक आत्म साक्षात्कार नहीं हो सकता।

सामान्यतः जिसे निष्काम कर्म कहा जाता है, वह सब निष्काम कर्म नहीं है। ग्रंथि भेदन के अनन्तर ही निष्काम कर्म सम्पन्न किया जाता है। ग्रंथि भेदन के अनन्तर सुख-दुःख, स्तुति-निन्दा, मान-अपमान साधक का स्पर्श नहीं कर सकते। तब जो कुछ भी होता है, वह सब स्वभाव के प्रवाह में होता रहता है। इससे साधक के चित्त में विकारमयता नहीं आती। प्रतिष्ठा रहित कर्म ही निष्काम कर्म है। इसमें नाम तथा यश की आकांक्षा ही नहीं रह जाती। फल की अभिलाषा समाप्त हो जाती है। क्षुद्र अहं भाव की निवृत्ति होने पर ही फलाकांक्षा विनिवृत्त होती है। अब साक्षी की तथा द्रष्टा की स्थिति प्राप्त होती है। साधक देखता है कि शरीर चल रहा है। उसे ज्ञान हो जाता है कि वह उसका परिचालक नहीं है। शरीर जैसे भी चले, उससे साधक विचलित नहीं होता। विचलितावस्था को साक्षी भाव नहीं माना जाता। इस द्रष्टत्व से एक निर्मल आनन्द भाव का उदय होता है। यही गीतोक्त योगस्थ कर्म है। यहाँ भी दो रूप हैं।

(१) देह का परिचालक मैं नहीं हूँ। यह बोध जाग्रत रहने के कारण देह के प्रति ममता नहीं होती और कर्तृत्वज्ञान भी नहीं रहता।

(२) देह द्वारा अनुष्ठित कर्म का फलाफल भी मैं नहीं देखता। अतः सिद्धि-असिद्धि, अच्छा-बुरा, स्तुति-निन्दा में समत्व है। यह समत्व ही योगस्थ कर्म का योग है। मुझे न तो कर्म में ममत्व है और फल के प्रति भी बोध नहीं है।

यहाँ शंका होती है कि निष्काम कर्म योग्य आधार में स्वयंमेव स्फुरित होता हैं। अतः क्या कारण है कि गुरु शिष्य को आदेश देते हैं? कर्म का मूल है कर्त्तव्यबोध तथा राग। फलाकांक्षा त्याग ही राग त्याग है। अतः यह रागमूलक कर्म है ही नहीं। गुरु के आदेश, शास्त्र की आज्ञा से कर्म के प्रति कर्त्तव्य बोध होने लगता है। इस बोध से कर्म करने की प्रवृत्ति उत्पन्न होती है। अब प्रश्न उठता है कि यहाँ शिष्य साक्षी भावापन्न कैसे है? यदि कोई कर्त्तव्यत्व ज्ञान द्वारा प्रेरणा प्राप्त करने के अनन्तर कर्मानुष्ठान करता है, उस स्थिति में उसे कर्तृत्व की प्राप्ति अवश्य होगी। इसका समाधान यह है कि शिष्य के स्वाधीन होने के कारण, उसमें किंचित् पौरुष विद्यमान

रहना स्वाभाविक है। यह स्वातंत्र्य जीव मात्र में, विद्यमान रहता है। जिसमें जिस मात्रा में स्वातंत्र्य विद्यमान है, उसमें उसी मात्रा में ही स्वतन्त्रता रहती है। यदि किंचित स्वतंत्रता न रहती, तब उसे गुरु आज्ञा नहीं दे सकते थे। अस्वतंत्र है जड़। जड़ पदार्थ का कर्म में नियोग नहीं हो सकता। यह किंचित् स्वतंत्रता ही अधिकारी भेद से इच्छा के रूप में जीव के हृदय में आत्मप्रकाश करती है। गुरुगण शिष्य से मुख्य कर्त्ता बनने के लिये कदापि नहीं कहते। वे शिष्य को निमित्त मात्र बनने के लिये कहते हैं। गुरु स्वयं कर्त्ता रहते हैं, जो कुछ भी करना होता है, वे स्वयंमेव करते रहते हैं। शिष्य रूपी जीव को गुरु के समक्ष आत्मसमर्पण करके उनका यन्त्र बनना होगा। इस अवस्था में गुरु-शक्ति इस यन्त्र का आश्रय लेकर कार्यरत हो जाती है। शिष्य स्वाधीन है। अतः उसे अपनी इच्छा को गुरु की इच्छा से मिलाना पड़ता है। यही योगस्थ कर्म पूर्ण करने का विधान है। यदि शिष्य अपनी इच्छा को गुरु की इच्छा के साथ नहीं मिलाता, उस अवस्था में वह गुरु के साथ युक्त नहीं हो सकता और विश्वविधान के साथ समत्व की रक्षा भी नहीं कर सकता। जब तक मोह तथा कर्त्तृत्वाभिमान प्रबल रहता है, तब तक आत्मसमर्पण की स्थिति नहीं आ सकती। गुरु की इच्छा रहती है कि शिष्य अनुकूलत्व प्राप्त करे तथा उसमें आत्मसमर्पण की भावना का संचार हो। इससे वह अवस्था प्राप्त होती है, जिसमें द्रष्टा अथवा साक्षी भाव का उदय हो जाता है। अब ज्ञात होता है कि गुरु ने शिष्य को ग्रहण कर लिया है और वे ही उसके देहस्थ यन्त्रों का तथा देह का संचालन कर रहे हैं। यह वह स्थिति है जिसमें शिष्य साक्षी बनकर अपने शरीर की इन समस्त क्रियाओं को भगवान रूपी गुरु द्वारा चालित होते देखकर भगवद् इच्छा का यन्त्र बनने के आनन्द का अनुभव करता है। यही है निष्काम कर्म।

एक अन्य शंका उत्थित होती है। यदि जागतिक गुरु का आदेश नियम विरुद्ध हो, तब उसका पालन करना चाहिये अथवा नहीं? यदि शिष्य जागतिक गुरु में ही वास्तविक गुरु भाव की स्थापना कर सके, उस अवस्था में इसका समाधान अति सहज है। 'आज्ञा गुरुणामविचारणीया' गुरु की आज्ञा पर तर्क, उहापोह आदि नहीं करना श्रेयस्कर है। इसका निराकरण यह है कि यदि आज्ञा अनुचित होगी, तब उसका पालन करते समय ईश्वरीय इच्छा से बाधा तथा विघ्न आते रहेंगे। यहाँ ईश्वरीय विधान कार्यरत हो जाता है और अनुचित इच्छा के पूर्ण होने में ईश्वर विघ्न डाल देते हैं। अतः गुरु की आज्ञा के उल्लंघित होने का अपराध भी नहीं होता और अनुचित कार्य का आचरण भी नहीं हो सकता। अतः साधारण अधिकारी के लिये, (जिसे गुरुज्ञान नहीं हुआ है, तथापि गुरु हैं) यह आवश्यक है कि वह आदेश के संदर्भ में उचित-अनुचित की शंका उठने पर अपनी विचार शक्ति के द्वारा कर्त्तव्य का निर्धारण करे। इसी कारण साधारण व्यक्ति को चाहिये कि शास्त्र तथा गुरुवाक्य के साथ युक्ति का समन्वय करने की चेष्टा करे। ठीक गुरु ज्ञान न होने पर भी सद्विचार द्वारा चलने से गुरु की आज्ञा का उल्लंघन नहीं होता। केवल मात्र शास्त्र पर आश्रित रहने से कर्त्तव्य का निर्णय नहीं हो सकता। उक्त है—

केवलं शास्त्रमाश्रित्य न कर्त्तव्यो विनिर्णयः

किसी स्थिति में अन्त:करण की सूक्ष्म इच्छा उदित होकर आज्ञा रूप से अनुष्ठान प्रेरणा देने लगती है। यह अन्त:करण का भाव गुरु की आज्ञा नहीं है अतः उसका अनुसरण नहीं करना चाहिये। जो शुद्ध सत्व अथवा सत्व की पराकाष्ठा पर्यन्त उन्नीत हो चुके हैं, केवल वे ही अन्त:करण की प्रवृति का अनुसरण करने के अधिकारी हो सकते हैं। साधारण जीव के अन्त:करण की प्रवृत्ति यथार्थ शुद्ध प्रवृत्ति नहीं होती। अतः उस प्रवृत्ति का अनुसरण करना विहित नहीं होता। इच्छा को व्यवहार तथा क्रिया रूप में परिणत करना उचित नहीं है। यहाँ संयम की आवश्यकता प्रतीत होती है। संयम का फल यह है कि इच्छा होने पर भी कृति नहीं हो सकती, अथवा कृति होने पर भी चेष्टा नहीं हो सकती। संयम का कार्य है इच्छा की चेष्टा का निरोध। कर्तृत्वाभिमान रहने तक वह इच्छा चेष्टा रूप में परिणत होती है, तथापि योगस्थ व्यक्ति की इच्छा का चेष्टा रूप में विकास नहीं होता। अन्तर्यामी पुरुष (अन्त:स्थ पुरुष) इसमें बाधा डाल देते हैं।

जो आप्तकाम .हैं, उनकी क्रिया को कर्म की संज्ञा देना उचित नहीं है। आप्तकाम की क्रिया स्वातन्त्र्य का विलास है। यह क्रिया भी निष्काम कर्म नहीं है। निष्काम कर्म के समय स्वभाव का स्रोत बहता रहता है और आत्मा दृश्य रूप में विद्यमान रहता है। इतने पर भी यह वास्तविक द्रष्टा का भाव नहीं कहा जा सकता। कारण यह है कि इस अवस्था में एक शान्त तथा स्निग्ध आनन्द उच्छलित होता रहता है। सभी क्रियाओं में एक गम्भीर रस की अनुभूति होती रहती है। अब साधक अपने इष्ट की तृप्ति में स्वतृप्ति का ही अनुभव करता है। यद्यपि यह कर्म साधारण कर्मों से विलक्षण है, तथापि यह सब कर्म रूप ही है। इस अवस्था में भी वासना चित्त में विद्यमान रहती। इसका प्रमाण यह है कि वासना के संस्पर्श से ही आनन्दास्वादन हो सकता है। आनन्द तभी-प्राप्त होता है, जब आनन्द प्राप्ति की वासना की सत्ता हो। अतः यह आनन्द भी सीमित आनन्द रूप ही है। अबाधित, अकुण्ठित भूमानन्द नहीं है। आत्मदर्शन की अवस्था में एकमात्र आत्मा ही अवस्थान करती है। अन्य किसी की भी सत्ता नहीं रहती। अतः स्वरूप स्थिति के साथ ही भोक्ता तथा भोग्यभाव का विलीनीकरण हो जाता है। आत्मदर्शी के कर्म समाप्त हो जाते हैं। वह कर्मबन्धन से स्वतंत्र हो जाता है। अब उसे जिस प्रकार का भी भाव आता हो, वह अपने आपमें उस भाव के साथ ही क्रीड़ारत हो जाता है। आत्मज्ञ चाहे जिस रूप में क्रीड़ा क्यों न करें, वह सब उसका अपना ही रूप है। सबमें वह अपने को ही लेकर क्रीड़ारत रहता है : अब वह अभिन्न है, भिन्न रहकर भी अभिन्न है, अथच अभिन्न होकर भी भिन्नवत् प्रतिभासित होता रहता है। इस क्रीड़ा में भी उसकी स्वरूपावस्था यथावत् ही रह जाती है। उक्त है—

इति वा यस्य संवित्तिः, क्रीड़ात्वेनाखिलं जगत्॥
स पश्यन् सततं युक्तः, जीवन्मुक्तो न संशयः॥

आत्मज्ञानी महापुरुष सम्पूर्ण जगत् को लीला के रूप में देखता रहता है और सतत् आत्मस्वरूप से युक्त रहता है। वह देहधारी होने पर भी मुक्त ही है। आत्मदर्शन की पूर्वावस्था में यह दृष्टि नहीं रहती। आत्मदर्शन होते ही यह दृष्टि प्राप्त हो जाती है।

एक ऐसी भी अवस्था है जिसमें कर्म के ही लिये कर्मानुष्ठान किया जाता है। इस अवस्था में फल के लिये कर्मानुष्ठान नहीं किया जाता। यहाँ कर्म करने वाले की प्रीति एकमात्र कर्म करने में ही रहती है। लौकिक अथवा अलौकिक प्रयोजन की सिद्धि के लिये वह कर्म नहीं करता, अपितु इस स्थिति में भगवान ही कर्म का रूप धारण करके प्रकट होते हैं। अत: कर्म करते-करते कर्म की निवृत्ति भी स्वत: हो जाती है। कर्मी कर्म में अनुरक्त होकर विवश की तरह कर्म करता रहता है। इस कर्मी का लक्ष्य लोकहित अथवा विश्व कल्याण भी नहीं है। अत: यहाँ शंका हो सकती है कि तब कर्म स्वत: कैसे समाप्त होकर कट जाता है? इसका समाधान यह है कि जिस किसी प्रकार से भी, चित्तैकाग्र्य की प्राप्ति होते ही ज्ञान का उन्मेष हो जाता है। एकाग्र अवस्था में यत्र-तत्र बिखरा हुआ तेज घनीभूत हो जाता है, अत: अन्त:करण ज्ञान से आलोकित होने लगता है। अब हृदय ग्रंथि का खुल जाना स्वाभाविक है। इससे समस्त सन्देह उच्छिन्न हो जाते हैं और सर्वकर्मक्षय का मार्ग प्रशस्त हो उठता है। महासत्ता सर्वत्र समानभाव से विद्यमान रहती है। एकाग्रता न होने के कारण उसकी उपलब्धि नहीं हो सकती। जब सम्पूर्ण लक्ष्य कर्म में हो, उस स्थिति में चित्तैकाग्र्य का जन्म होता है। चित्तैकाग्रअवस्था में कर्मत्याग होना अवश्यम्भावी है। अब अपकर्म की सम्भावना ही नहीं रहती। वास्तव में एकमात्र नित्य वस्तु रूप परमात्मा की ही सत्ता है। जिसमें इसे देखने की शक्ति नहीं है, उसे ही सब कुछ कालग्रस्त अनित्य-सा प्रतीत होता है। वह नानात्व को ही देखता है। यही कालप्रवाह है और इसे ही जगत् का परिवर्तन भी कह सकते हैं। नित्य वस्तु से योग होते ही परिवर्तन की समाप्ति हो जाती है। बाह्य कर्म तथा साधना रूपी आन्तरिक कर्म की भी सत्ता विलीन हो जाती है। जो सदा रहने वाला है, वही परमात्मा रह जाता है। वह सदा से विद्यमान है। अत: सभी कुछ मुक्त रूप है। कर्म भी नित्य मुक्त है। कर्म के नित्य मुक्त होने के कारण सब कुछ मुक्त है। कहीं कोई बन्धन ही नहीं है। जो कुछ दु:खानुभूति हो रही है, वह कल्पित ही है।

साधना में भाव तथा कर्म रूप दो मार्ग कहे जाते हैं। दोनों का एक दूसरे के साथ अभिन्न सम्बन्ध भी है। भाव में भी कर्म है। कर्म में भी भाव की सत्ता अन्तर्निहित-सी रहती है। जहाँ जो प्रधान है, उसका ही नाम दे दिया जाता है। भावासक्ति में भाव प्रधानता है। उस अवस्था में हृदय आनन्द से आप्लुत-सा रहता है। इतने पर भी इस आनन्द का कोई मूल्य नहीं है। यह भी एक बन्धन ही है। बन्धन होने पर भी यह अत्यन्त रुचिकर बन्धन है। अत: इसे बन्धन रूप स्वीकार करने से अनेक विद्वान हिचकते भी है। आनन्द से बंधे रहने के कारण भावातीत बिन्दु तक आरोहण हो सकना असंभव-सा है। इसका कारण है कि भाव को खण्डता से ओतप्रोत माना

जाता है। भावावस्था पूर्ण स्थिति नहीं है। क्योंकि भाव पूर्ण हो जाने पर वह मनुष्य को बाँधता ही नहीं। पूर्णावस्था का भाव मार्ग विरोध समाप्त कर देता है। भाव की पूर्णता होती है भगवत् स्पर्श द्वारा। पूर्ण के स्पर्श से ही पूर्णता आती है। कर्म के सम्बन्ध में भी यही नियम उचित प्रतीत होता है। पूर्ण कर्म ही कर्म बन्धन से त्राण दे सकता है। वह स्वभाव की गति का बाधक नहीं बनता।

कर्म तथा कर्म फल के संयोजन से संसार का आधार प्रकट होता है। कर्त्तृत्वाभिमान से कर्म की उत्पत्ति होती है। कर्त्तृत्वाभिमान से ही कर्म के फल भोग का वातावरण निर्मित होता है। कर्म के दो भेद हैं, शुभ तथा अशुभ। अत: इन दोनों के फल भी सुख: तथा दु:ख रूप कहे जाते हैं। कर्त्तृत्व तथा भोक्तृत्व का सामान्य नियम यह है कि जो कर्त्ता है, वही भोग करने वाला भोक्ता होगा। शास्त्रों का कथन है कि जिस अधिकरण अथवा आधार में कर्त्तृत्व रहेगा, उसी अधिकरण में भोक्तृत्व की भी स्थिति होगी। किसी भी कर्म के कर्त्ता को स्वयं उसका फलभोग करना होगा। कर्म कोई और करे तथा फल कोई पाये, ऐसा नहीं होता। कार्यकारण भाव की दृष्टि से ऐसा करना स्वाभाविक भी है। कतिपय विद्वान कर्मवाद मानते हैं तथापि जन्मान्तर नहीं मानते? इन्हें भी उपरोक्त सिद्धान्त मान्य है। इस सिद्धान्त पर विश्व न्याय की आधार शिला प्रतिष्ठापित है। करुणा अथवा प्रेम को इस सिद्धान्त से बाहर कहा जाता है, तथापि वे इसका उल्लंघन करते प्रतीत नहीं होते।

यह कर्मवाद का सामान्य नियम है। यह सुसंगत तथा सर्वमान्य मत है, परन्तु इसमें भी अनेक रहस्य प्रच्छन्नरूपेण भरे पड़े हैं। व्यक्तित्व का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि विराट सत्ता के साथ उसका सम्बन्ध है तथा मूल में जीव एक ही है। अत: सृष्टि में नाना जीव भाव की अभिव्यक्ति में भी ज्ञानीजन 'एक जीव' ही देखते हैं। मूल में जीव एक तथा अभिन्न है। तथापि काल प्रभाव से तथा कर्म विकास के कारण नाना संख्या में दृष्टिगोचर होता है। इस बहुसंख्यक जीवों में अनन्त प्रकार की विचित्रता विद्यमान है। गुण, कर्म, भाव, रुचि तथा सामर्थ्यगत् भेद जीव सृष्टि में परिलक्षित होते रहते हैं। मूलत: जीव एक है, तथापि बाह्य-सृष्टि में आकर नाना हो गया है। इस नानात्व में भी एक का अन्य के साथ अभेद मूलक अनुप्रवेशात्मक सम्बन्ध बना रहता है। अत: प्रत्येक जीव भी सर्वजीवात्मक ही है। गुणादि पार्थक्य के कारण जीवों में पार्थक्य है। जो कर्त्ता है, वही भोक्ता है। यही नियम ऊपर कहा गया है। इस मूल नियम का खण्डन न होने पर भी इसकी एक परिपूरक दिशा है। अत: जब कोई भी कृत्य एक व्यक्ति करता है, तब आंशिक रूप से उसका फल समग्र विश्व को ही भोगना पड़ेगा, यह नियम भी गलत नहीं है। इसका कारण यह है कि मूलत: समस्त जीव 'एक जीव' का ही बहि: प्रकाशन है और सबका एक-दूसरे के साथ अभेद सम्बन्ध अनादि काल से विद्यमान है। अंश का तारतम्य रहने पर भी विश्व की अन्तिम रेखा पर्यन्त उस कर्म का प्रभाव होता है। निकट में प्रभाव अधिक पड़ता है, दूर में प्रभाव कम पड़ता है। अत: यहाँ किसी का कर्म, एक व्यक्ति के व्यक्तिगत कर्म

के रूप में प्रतीत होने पर भी अवचेतन रूप में वह समस्त विश्व का कर्म है। कर्तृत्वाभिमान के कारण व्यक्ति इसे नहीं मानता, तथापि यह विश्व शक्ति की क्रिया है अतः गीता में उक्त है—

प्रकृते क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः ।
अहंकारविमूढ़ात्मा कर्ताऽहंमिति मन्यते ॥

इसी कारण यदि कोई व्यक्ति सुख-दुःखादि का भोग करता है तब वह अपने कर्म से सुख-दुःखादि को भोग रहा है, परन्तु यह अंशतः विश्वकर्म का ही फल है।

इसी प्रकार हम भी प्रत्येक के लिये कर्म का फल भोग करते हैं। अतः प्रत्येक कर्म के सम्पादन में हमारे ऊपर एक दायित्व है। व्यष्टि का फल समष्टि को तथा समष्टि का फल व्यष्टि को भोगना ही पड़ेगा। सूक्ष्मानुशीलन से ज्ञात होता है कि इस फलोत्पत्ति की अनेक धारायें हैं। इसमें रक्तगत दैहिक सम्बन्ध एक प्रधान धारा के रूप में गणनीय है। ये समस्त धारायें ऊपर, नीचे, तथा सम-अन्तराल रूप में चतुर्दिक परिव्याप्त हैं। रक्तगत सम्बन्ध तथा इच्छामूलक भाव सम्बन्ध, इस धारा के नियामक हैं। महापुरुषों का कथन है कि अच्छा या बुरा जो भी कार्य किया जाता है, उसका असर कर्त्ता से सात पीढ़ी पूर्व तक तथा सात पीढ़ी बाद तक पड़ता है। सात पीढ़ी पर्यन्त रक्त की विशिष्टता प्रबल रूप से रहती है। यह प्रभाव योगीगण ही समझ सकते हैं।

कर्म से कर्म का फल उत्पन्न होता है। कर्म की पूर्ति होने पर ही फलाविर्भाव होता है। कारणों की समष्टि से कार्य की उत्पत्ति होती है, अतः इसमें तनिक भी अपूर्णता रहने पर, वैगुण्य के कारण फल का आविर्भाव नहीं हो सकता। जीव की स्थिति अल्पज्ञता से आच्छादित रहती है। उसकी शक्ति भी सीमित ही है। वह पूर्वकर्मों से ग्रस्त है और उसकी सूक्ष्मदृष्टि भी संस्काराच्छादित है। इस परिस्थिति में कर्म में अपूर्णता रह जाना स्वाभाविक-सा है। वह विधिपूर्वक, विशुद्ध रूप से कर्म कैसे कर सकता है? अतः सभी परिस्थितियों में कर्म पद्धति अथवा कार्य के अन्त में भगवत्स्मरण की व्यवस्था की जाती है। स्वयं सरल, भावापन्न होकर यथाविधि, यथाशक्ति कर्म करे तथा अन्त में अज्ञानजनित त्रुटि के लिये श्री भगवान के समीप क्षमा याचना करे। उक्त है—

अज्ञानाद्, यदि वा मोहात्, प्रच्यवेताध्वरेषुयत् ।
पूर्णं भवतु तत्सर्व श्री हरेर्नामकीर्तनात् ॥

अपने कर्म को एक मात्र भगवान ही पूर्ण कर सकते हैं। कृतकार्य में हुई त्रुटियों के लिये सरलता से उनके सम्मुख प्रार्थना करना चाहिये। इससे वैगुण्यजनित त्रुटियों को श्री भगवान पूर्ण कर देते हैं। अब कर्म से फल की उत्पत्ति होने लगती है।

जीव जो कुछ प्राप्त करता है, वह सब उसी परमपद से प्राप्त करता है। यहाँ तक कि जीव का कर्तृत्वबोध तथा किंचित् स्वातंत्र्य भी वही से मिला है। जीव स्वयं भी वहीं से आया है। जीव की शक्ति, जीव का स्वरूप सब कुछ ही आगन्तुक है। इस आगन्तुकता की पृष्ठभूमि में भी एक रहस्य विद्यमान है। वास्तव में वह मूलभूत जीव

अपने में ही आसीन है। जब वह अपने मूलभूत स्थान में था, तब उसे स्वबोध नहीं था। वह भगवान से अभिन्न था, तथापि इसका भी बोध नहीं था। आश्चर्य तो यह है कि उसे अपने आवरण का भी बोध नहीं था। अतएव भगवान ने उसे पृथक् बोध देकर अपने से विविक्त कर दिया। इस पृथकता के साथ उसे स्वाधीन इच्छा तथा कर्तृत्वाभिमान भी प्राप्त हुआ। अब जीव का कर्त्तव्य है कि इसे भगवान की ओर नियोजित करे, तभी जीव की सार्थकता है। जीव ने अपनी सभी उक्त शक्तियों का विनियोग इस रूप से किया है कि वे दूर हैं, उन्हें पाना दुष्कर है और वह भोगलिप्त होकर परमेश्वर प्रदत्त स्वतंत्रता का दुरुपयोग कर रहा है। अत: स्वयं को पाने की सभी प्रक्रिया कर्म रूप नहीं है। तथापि यह अकर्म भी नहीं है। इसी प्रक्रिया में जीव का कर्तृत्वाभिमान सफल होता है।

कर्म प्रसंग में आयु तत्त्व भी विवेचनीय है। आयुष्य काल में ही कर्म का सम्पादन होता है। योगशास्त्रानुसार आयु विपाकोन्मुख कर्म के तीन विपाक के अन्तर्गत एक विपाकरूप है। कर्म को क्रियमाण तथा प्राक्तन रूप से द्विधा विभक्त किया जाता है। वर्तमान में अनुष्ठित कर्म क्रियमाण कर्म है। क्रियमाण कर्म की उत्पत्ति के मूल में अविवेक तथा तद्मूलक देहात्मक ज्ञान (देहबोध) का रहना आवश्यक सा है। क्रियमाण कर्म उत्पन्न होने के साथ-साथ अपने अनुरूप संस्कार की छाप चित्त पर छोड़कर नष्ट हो जाता है। इसे कर्माशय कहते हैं। एक के पश्चात् एक-एक कर्मों के संस्कार चित्त पर अंकित होते रहते हैं। अनादि काल से इसी तरह कर्म संस्कार संचित होते आ रहे हैं। इन्हें ही संचित कर्म कहा जाता है। यही संचित कर्म अतीत काल से सम्बद्ध होने के कारण प्राक्तन कर्म कहलाने लगते हैं। अत: प्राक्तन तथा वर्तमान कर्म की सत्ता सिद्ध हो जाती है। यहाँ यह स्मरणीय है कि सभी संचित कर्म फल प्रसव नहीं कर सकते। अपरोक्ष ज्ञान के साथ ही संचित कर्म दग्ध हो जाते हैं। अनेक संचित कर्म तत्विरोधी कर्म से नष्ट हो जाते हैं। अनेक कर्म अपने समान के अति प्रबल कर्म में मिलकर अपना अलग अस्तित्व खो बैठते हैं। किसी कर्म का क्रमिक परिणाम होता है। किसी कर्म का विपाक अनियत भी होता है। उनका विपाक होगा अथवा नहीं, यह भी निश्चित नहीं है। अर्थात् समय निश्चित नहीं होता। प्रबल कर्म का फल इसी जीवन में मिल जाता है। यही नियति का स्वरूप है। मृदु कर्म का विपाक हो भी सकता है और विरोधी कर्म रहने पर विपाक नहीं भी हो सकता है। प्राक्तन कर्मों पर वर्तमान कर्म का प्रभाव अवश्य पड़ता है। यह प्रभाव वर्तमान कर्म की मात्रा की प्रबलता के कारण तीव्र अथवा मन्द भी हो सकता है। क्रमिक रूप से क्रियमाण कर्म का जो प्रभाव चलता है, वह मृत्यु के साथ समाप्त हो जाता है। मरणासन्नावस्था में जो भाव चित्त में उदित होता है, वह व्यक्ति का अन्तिम कर्म है। कारण इसके अनन्तर इस जन्म में क्रियमाण कर्म को किया ही नहीं जा सकता। अत: इस कर्म की शक्ति अत्यन्त प्रबल होती है। यह अन्तिम क्रियमाण कर्म अन्य किसी भी कर्म द्वारा अवरुद्ध

नहीं किया जा सकता। यह अंतिम कर्म उदित होने के साथ-साथ संचित कर्म भण्डार से अपने अनुरूप कर्म संस्कार को आकर्षित कर लेता है।

ये सब कर्म विपाकोन्मुख कर्म के संस्कार हैं। ये अंतिम कर्म को केन्द्र बनाकर उसके अंग के रूप में मात्रागत् तारतम्य के अनुसार सजने लगते हैं। अन्त में सब मिलकर एक समष्टि कर्म के रूप में परिणत हो जाते हैं। भक्त अथवा उच्चकोटि के साधक की मृत्युकालीन स्थिति में भगवान की ओर उन्मुखता रहती है। अत: मृत्युकाल में एक अन्तर्मुखी गति उत्पन्न होती है जो एकाग्रता अथवा स्वाभाविक योग पदवाच्य है। उस एकाग्रता के फल से उक्त कर्म समूह (कर्म समष्टि) घनीभूत होकर पिण्डाकृति धारण करती है। इस पिण्ड के केन्द्र में मृत्युकालीन भाव का कर्मबीज विराजित रहता है। यह कर्म पिण्ड रहित हो जाने पर ही देह त्याग का क्षण आता है। इस सन्धि क्षण में विगत जीवन की विविध घटनायें अत्यल्पकाल में चलचित्र के समान मुमुर्ष की चेतना में प्रकट होने लगती हैं। इसी समय भावी जीवन का रूप भी प्रकट होता है। मृत्युकाल में जो ज्योति प्रकट होती है उसी में इन दृश्यों की अभिव्यक्ति होती है। उक्त कर्मपिण्ड ही प्रारब्ध कर्म है। यह प्राक्तन कर्म का विपाकोन्मुख अंशमात्र है। तात्पर्य है कि अनन्त प्राक्तन कर्मराशि में से जितने कर्म फल देने को तत्पर हो रहे हैं, वे ही प्रारब्ध कर्म रूप हैं। प्रारब्ध का मुख्य फल है, सुख तथा दु:ख का भोग। यह भोग होता है शरीर द्वारा। अत: शरीर को प्रारब्ध का फल कहते हैं। यह देह कितनी आयु का अधिकारी है, यह भी प्रारब्ध कर्म द्वारा निश्चित होता है। देह में स्थिति के काल का नाम है, आयु। इससे यह विदित होता है कि प्रारब्ध के ३ विपाक होते है। ये तीनों विपाक रूप फल परस्परतया संश्लिष्ट रहते हैं। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि सभी कर्मों के विपाकत्रय नहीं होते। इन विपाक का नाम है जन्म, आयु तथा भोग।

त्रिविपाक युक्त कर्म को त्रिविपाक कर्म कहा जाता है। जहाँ मात्र आयु तथा भोग है, वह है द्वि-विपाक कर्म। जिससे मात्र एक विपाक उत्पन्न होता है, उसे एक विपाक कर्म कहते हैं। मृत्यु के काल में जो कर्म प्रारब्ध का रूप लेता है, वह त्रिविपाक कर्म कहलाता है। जीवितकाल में मृदु कर्म का एक विपाक होता है। यदि जीवितकाल का कर्म मध्यम शक्ति का हो उस स्थिति में उसके दो विपाक होते हैं। वर्तमान देह में अनुष्ठित कर्म अत्यन्त तीव्र वेगयुक्त होने पर ही उसका फल वर्तमान जीवन में मिलता है, अन्यथा इस जन्म में नहीं मिलकर परवर्ती जन्मों में मिलता है। इसका कारण यह है कि जब तक प्रारब्ध भोग समाप्त नहीं होता, तब तक नूतन भोग की प्राप्ति नहीं हो सकती। वर्तमान जन्म में ऐसे भी कर्म अनुष्ठित हो सकते हैं जिससे भोग तो मिलता ही है, आयु की ह्रास-वृद्धि भी होती है। इसे द्विविपाक कर्म के अन्तर्गत परिगणित किया जाता है। वर्तमान कर्म की तीव्रता अत्यधिक होने पर वर्तमान देह को बदल कर अन्य देह की भी प्राप्ति हो जाती है। तीव्र क्रियमाण कर्म आयु को भी बढ़ा सकने में समर्थ है। यह क्रियमाण कर्म इष्टदेव का अनुग्रह, भगवान की

अहैतुक कृपा, मंत्र शक्ति का प्रभाव अथवा महापुरुष का आशीर्वाद रूप भी हो सकता है। जब आयु की वृद्धि हो सकती है, तब इस वृद्धि की सीमा रेखा भी निश्चित नहीं की जा सकती। यदि दो और चार मास की वृद्धि हो सकती है, तब सौ या चार सौ आदि वर्षों की वृद्धि नहीं होगी? शंकराचार्य का आयु काल १६ वर्ष से बढ़कर ३२ वर्ष होना और मार्कण्डेय ऋषि की आयु सीमा १२ वर्ष से बढ़कर कल्पान्त पर्यन्त हो जाना इसका उदाहरण है। आयु वृद्धि उत्कट कर्म से अथवा अनुग्रह से भी हो सकती है। किसी अन्य व्यक्ति द्वारा आयुदान भी किया जा सकता है। कालातीत हो जाने पर आयु की सीमारेखा ही नहीं रह जाती। जैसे श्री भगवान की कोई आयु नहीं है, वैसे ही चैतन्यमय पुरुष की भी आयु नहीं होती। कारण, वे कालाच्छन्न नहीं है।

मनुष्य स्व अधिकार के अनुसार किसी एक ही स्थिति को अपना रूप मान लेता है, तथापि यह पूर्ण रूप नहीं हो सकता। पूर्ण रूप में रूप तथा अरूपगत भेद का अवस्थान ही नहीं रहता। प्रथमत: खण्ड रूप की तथा अन्त में सम्पूर्ण रूप की उपलब्धि करना चाहिये। इस अवस्था में रूप तथा अरूप का समन्वय कर लेना ही निष्काम कर्म रूपी कर्त्तव्य है। बोध तथा अबोध के अतीत की स्थिति को प्राप्त करना कर्म नहीं है, प्रत्युत यह स्वभाव रूप है। यही यथार्थ अंकर्म है।

✤

क्षण

प्रत्येक मनुष्य अपनी-अपनी धारा में चलता रहता है। ज्ञानगंज की धारा है, अखण्ड महायोग। कोई किसी भी धारा में चले, सभी को एक ऐसे क्षण की प्राप्ति करनी ही होगी, जिससे उसे महासत्य की उपलब्धि हो सके। यह महासत्य है कि "वह सर्वत्र महासत्ता के साथ समान रूप से युक्त है।" इसी का नाम है महायोग का प्रकाश। क्षण विज्ञान को ही अखण्ड महायोग भी कहा जा सकता है। क्षण मूलतः एक तथा अखण्ड है। यह व्यक्तिगत धाराओं के भेद से भिन्न-भिन्न साधकों के सम्मुख भिन्न रूप से प्रकट होता है। क्षण का प्रधान लक्षण है खण्ड भाव से अखण्ड भाव का उन्मेष होना। यद्यपि धारायें भिन्न-भिन्न हैं, तथापि धारा के परिणाम का पूर्ण पर्यवसान इस महाप्रकाश का उदय है। यह महाप्रकाश ही महायोग रूप कहा जा सकता है। महायोग नित्यसिद्ध स्थिति रूप है। यह साधना का फल है ही नहीं। यह किसी क्रिया का परिणाम भी नहीं है। क्षण का सम्पर्क होने पर यह अव्यक्त होने पर भी चिरव्यक्त महाप्रकाश के रूप में साधक के समक्ष स्वप्रकाशित होने लगता है। उस समय प्रतीत होता है कि यह महायोग समग्र विश्व ब्रह्माण्ड के अणु-परमाणु के साथ, स्थूल सूक्ष्म, कारण अवस्थात्रय के साथ, अतीत, अनागत और वर्तमान काल के सात नित्य सम्बद्ध है। इस महाप्रकाश रूप महायोग में सत् तथा असत् का द्वन्द्वात्मक भेद भी अस्तमित हो जाता है। इस अवस्था में विरोध तथा अविरोध एकाकार होकर भासित होने लगता है। जो यथार्थ तत्त्व है उसका वर्णन 'है' रूप से नहीं हो सकता। एक ही समय में 'है' तथा 'नहीं है' रूप वर्णन भी नहीं किया जा सकता एवं इन दो प्रकारों के अतिरिक्त किसी अन्य प्रकार की कल्पना करके भी उसका निर्देश नहीं किया जा सकता। व्यवहार भूमि में इसका वर्णन किसी एक धारा का आश्रय लेकर ही हो सकता है। अतः इसे जो व्यक्ति जो कुछ भी कहे, वह वही है।

यहाँ महाक्षण एवं विकृत क्षण भी ज्ञातव्य है। इसकी चर्चा आगे की जा रही है। विकृत क्षण 'समय' है जो हमारे खण्ड जीवन को नियंत्रित करता है। यह तथ्य इति पूर्व कहा जा चुका है। यह क्षण मूलविद्या रूप गाढ़ान्धकारमय अज्ञात का क्षण है। उस समय अहंभाव ही प्रकाशित होता है। इस अहंभाव का प्रकाश के साथ कोई सम्पर्क नहीं है। अतः विकृत क्षण के अन्तर्गत जीवन की जो धारा नियंत्रित हो रही है, उसमें ज्ञान का अप्रतिम विकास हो जाने पर भी स्वरूप ज्ञान का उदय नहीं हो सकता। साधना द्वारा, कृपा द्वारा, अथवा दोनों के सम्मिलन से, जब महाक्षण की प्राप्ति हो जाती है, तब तड़ित्वल्ली के समान एक क्षण मात्र में, अखण्ड अक्रम रूपेण साधक महासत्ता रूपी स्वप्रकाश युक्त स्व-स्वरूप को जान लेता है। यह है स्वयं का दर्शन। यही आत्मदर्शन है। यह क्रमशः नहीं होता। क्रम रूप से नहीं होता। काल के मध्य में भी नहीं हो सकता। यहाँ कुछ भी दर्शनीय शेष नहीं रह जाता।

इस स्थल पर समय तथा क्षण की विवेचना की जा रही है। सामान्यतः समग्रकाल के सूक्ष्मतम अंग को क्षण कहते हैं। योगियों के अनुसार जब एक परमाणु एक प्रदेश का त्याग करने के अनन्तर अन्य प्रदेश का आश्रय लेता है, उसके इस संचरण काल को क्षण कहा जाता है। वास्तव में यह लौकिक परिमाण ही है। किसी ने काल को अखण्ड दण्डायमान मानकर, क्षण को उसका कल्पित अंश माना है। क्रिया का आश्रय लेकर ही इस अवयव विभाग की कल्पना की जाती है। निष्क्रिय सत्ता में विभाग नहीं रहता। अन्य मतानुसार क्षण को ही मूल सत्ता के रूप में ग्रहण करके काल को उससे आविर्भूत बौद्ध सत्ता माना गया है। अर्थात् काल का अस्तित्व बुद्धि पर्यन्त ही है। जहाँ बुद्धि की क्रिया नहीं है, वहाँ काल का अस्तित्व ही नहीं है, क्योंकि काल बौद्ध पदार्थ है। यह परिभाषा सत्य प्रतीत होती है। जिसमें पूर्वापर विभाग नहीं है, एकमात्र सत्ता ही विराजित रहती है, वही क्षण है। दृष्टिकोण के भेद से क्षण तथा काल के संदर्भ में इसी प्रकार की कल्पना प्रचलित है। क्षण का तात्पर्य है महासत्ता। इसका अनुभव 'स्व' द्वारा ही किया जा सकता है। अर्थात् इसमें एक के अतिरिक्त अन्य सत्ता का भान हो ही नहीं सकता। यह महाप्रकाश युक्त सत्ता समग्र विश्व प्रकृति के मूल में विद्यमान है। यही सर्वपदार्थ समूह का निज रूप है। क्षण कहने से इसी 'स्वमय' भाव का द्योतन होता है। भाव है अथवा भावातीन है अथवा दोनों है अथवा दोनों नहीं है।

वास्तव में क्षण एक ही है। उसी में सभी क्षण विद्यमान रहते हैं। महाक्षण भी उसी में है। विकृत क्षण भी वहीं विद्यमान है। मूलतः क्षण एक ही है। "एक एव क्षणः, तस्मिन् एकस्मिन्नेव क्षणे सर्व जगत् परिणामम् अनुभवति।" एक ही क्षण है। अन्य क्षण है ही नहीं। उस एक क्षण में समस्त जगत् अनन्त प्रकार के परिणाम को प्राप्त होता है। जब माता के गर्भ में जीव का प्रवेश होता है, वही क्षण मनुष्य जीवन का मूल क्षण है। यह अन्यन्त मूल्यवान है। इस क्षण का नियन्त्रण सम्पूर्ण जीवन पर रहता है। समग्र जीवन इसी एक क्षण का क्रिया रूप ही है। इस मूल क्षण में समस्त जगत की सम्बन्ध मूलक सत्ता विद्यमान रहती है। इस क्षण में जो शक्ति समूह प्रच्छन्न रूप से विराजित हैं, जीवन पथ पर उनकी ही क्रमिक अभिव्यक्ति होती है। जैसे बीज में फल, पुष्प आदि विद्यमान रहते हैं, उसी प्रकार उस एक क्षण में ही विस्तार को प्राप्त समस्त जीवन की विविधता बीजरूपेण विद्यमान रहती है। काल भी इसी एक क्षण का बहुत्व मूलक प्रसारमात्र है। इस क्षण को स्वायत्त करते ही समस्त जीवन तथा तदन्तर्गत कर्म एवं भोग वैचित्र्य को जाना जा सकता है। दूसरी ओर साधन से जिस क्षण का आविर्भाव होता है, वही महाक्षण है। यह महाक्षण पूर्णत्व पथ का साथी है। इस क्षण का संस्पर्श मिलते ही नित्य सत्य का साक्षात्कार हो जाता है।

✤

मौन

मन की गति द्विविध है। वह बहिर्मुखता में विषयों की ओर तथा अन्तर्मुखता में भगवान की ओर गतिशील होता है। भगवान की ओर गतिशीलता के समय मौनावलम्बन अथवा वाक् संयम सहायक रहता है। वाक् संयम से मन की क्रिया नहीं रुकती। प्राथमिक स्थिति में क्रिया रहती है तथा बोलने की प्रवृत्ति भी रहती है, किन्तु अभ्यास दृढ़ होने पर मन में गम्भीरता आती है और उसकी क्रियोन्मुखता भी शिथिल होने लगती है। अब स्वाभाविक रूप से वाक् संयम होने लगता है, अर्थात् बोलने की इच्छा समाप्त होने लगती है। सर्वान्त में मन की क्रिया ही नहीं रह जाती। इस अवस्था में भगवत् कृपा से भगवान के प्रति निर्भरता का संचार होने लगता है। यह है चिन्ताहीन अवस्था। "आत्मसंस्थं मन कृत्वा न किंचिदपि चिन्तयेत्" अर्थात् मन को आत्मा में स्थिर करके चिन्ता का त्याग करना चाहिये। भगवान में संलग्न मन पवित्र होता जाता है। मन में जागृति आती है तथा देह पवित्र हो जाता है। विषय चिन्तन द्वारा शक्ति क्षीण होती है। भगवत् चिन्तन से शक्ति का उपचय होता है। वाक् संयम करने के पश्चात् विषयों का चिन्तन करना कदापि उचित नहीं है। ऐसी स्थिति में मौन धारणा करना व्यर्थ हो जाता है। बलात् वाक् संयम करने से विषय चिन्तन ही होगा और इन्द्रियाँ आघात प्राप्त होकर रुग्ण हो जाती हैं। अन्तर्मुखी मन में भगवत् चिन्तन का कार्य प्रारम्भ हो जाना स्वाभाविक है। ऐसी स्थिति में स्वभावत: बोलने की इच्छा नहीं रहती।

मौन से विघ्न नष्ट हो जाते हैं। मौनावलम्बन के साथ अन्य उत्कृष्ट साधना का अभ्यास करना और भी अच्छा है। इससे अज्ञानावरण दूर हो जाता है। ज्ञान स्वयंप्रकाश है, वह किसी के भी प्रभाव से उद्भूत नहीं होता। वह स्वभावत: स्वयमेव आविर्भूत होता है। मौन साधना के प्रभाव से शरीर में स्थैर्य का संचार होना प्रारम्भ होने लगता है।

योगवाशिष्ठ में पंचविध मौन का उल्लेख मिलता है। (१) वाचिक मौन अर्थात् वाणी से नहीं बोलना। (२) समाधि मौन अर्थात् कुछ भी न देखना। (३) काष्ठ मौन अर्थात् जब आत्मा और पदार्थ समूह में भेद ज्ञान नहीं रहता। (५) आत्ममौन अर्थात् आत्मा और पदार्थ समूह में भेद ज्ञान नहीं रहता। (५) आत्ममौन अर्थात् आत्मा में जागृति होना। यह सर्वश्रेष्ठ मौन है।

✤

ब्रह्म तथा स्वरूप

ब्रह्म निरंश सत्ता है। उसमें अंश नहीं है। साधक अंश रूप है। साधक का ब्रह्म दर्शन आंशिक दर्शन होता है। जब तक ब्रह्म में स्थिति नहीं होती तब तक अंशांशीभाव की विद्यमानता रहती है। जब तक मन है, तब तक अंशांशीभाव भी है। मन से अगोचर अखण्ड स्वरूप में अंश की सत्ता मानने का कोई औचित्य ही नहीं हैं। उसमें मन का अस्तित्व नहीं है। शक्ति नहीं है अर्थात् पृथक्तया कुछ भी नहीं है। अपृथक् रूप से सब कुछ विद्यमान रहता है। वहाँ पृथक्—अपृथकत्व का, रहने तथा न रहने का कोई प्रसंग ही नहीं है। अत: वह स्पर्श रहित है। यही निर्विकल्पत्वक समाधान है। वास्तविक दर्शन उस महासत्य का स्व-प्रकाश मात्र है। सनातन धर्म के वैदिक और तांत्रिक दर्शनों में, ईसाई धर्म में, सूफियों में, मिस्टिक आदि में सर्वत्र ही ये उभय दृष्टियाँ प्रचलित हैं। समन्वय स्थल में कहा जाता है कि अधिकार भेद से दोनों ही सत्य है। बौद्धों ने भी प्रकारान्तर से इस विभाग को स्वीकार किया है। सम्पूर्ण कल्पनाओं की निवृत्ति से सत्य की प्रतिष्ठा होती है।

संसार अनेक प्रकार का है। द्वैत संसार को पशु संसार कहते हैं। अद्वैत संसार शिव का संसार कहा गया है। अविद्याजनित भेद का उदय ही द्वैतमय संसार का रूप है। विद्या रूप से अभेद ग्रहण पूर्वक अद्वैत संसार का आविर्भाव होता है। एक ही काल में विद्या और अविद्या का उन्मेष होने की अवस्था में भेदाभेद रूप परमशिव के संसार का प्रकाशन होता है। इस अवस्था को भी संसार ही कहा जाता है। इसके उर्ध्व में जो अवस्था है, वह संसार रूपी कलंक से सर्वथा मुक्त है। शुद्ध अन्तर्मुखी विश्राम को इस अवस्था का स्वरूप माना जा सकता है। इसे विन्दु अवस्था भी कहते हैं। अन्य के मत से यही अनुत्तरधाम भी है। यही महाविश्रान्ति पद का रूप है। इस स्थिति में संसार नहीं रहता, तथापि तीनों प्रकार के संसार का अनुसन्धान रूप शेष रह जाता है। इसी कारण यह मानना होगा कि इससे अतीत भी एक अवस्था का अस्तित्व है। इस अतीत अवस्था को परव्योम अथवा निष्कल महाविन्दु भी कहते हैं। सुषुप्ति, स्वप्न, जाग्रत, तुरीय तथा तुरीयातीत—इनमें क्रमश: अभेद संसार, भेद संसार, मिश्र संसार, संसार विश्रान्ति तथा सर्वातीत महाबिन्दु की सत्ता रहती है। इन पांचों अवस्थाओं की समष्टि व्यापक अखण्डस्वरूप को ही पूर्णत्व कहते हैं। मातृकाचक्रविवेक ग्रंथ में पंचम स्वरूप को परमव्योम कहा गया है। 'वातुलसिद्ध पद्धति' की टीका में उसे परमाकाश कहा गया है। पूर्णत्व में सब कुछ समाविष्ट रहता है।

स्वरूपज्ञान में क्रम तथा नानात्व नहीं रहता। क्रम कालगत धर्म है। नानात्व प्रधानत: देशगत धर्म कहा जाता है। स्वरूपज्ञान में मात्र एक भाव विद्यमान रहता है। उसमें परभाव नहीं रहता। अत: वहाँ त्रिकाल भेद हो ही नहीं सकता। वह नित्य वर्तमान तथा प्रकाश रूप है। वहाँ नानात्व नहीं है, अर्थात् जो कुछ भी अनन्त वैचित्र्य

है, वह सब एक में ही पर्यवसित है। क्रम कालगत धर्म है परन्तु नानात्व देशगत धर्म कहा जाता है। स्वरूपज्ञान में पर-अपर भाव की सत्ता ही नहीं है, अतएव वहाँ त्रिकाल भाव का पूर्णाभाव रहता है। वह नित्यवर्त्तमान तथा स्वयं प्रकाश रूप है। वहाँ पर समस्त अनन्त वैचित्र्य समूह एकत्व में ही पर्यवसित रहते हैं। मानो समस्त एक का ही नानात्व है। अतः उसमें नानात्व रूप पृथक्ता नहीं है। जहाँ नानात्व नहीं है, संख्या नहीं है, उसे एक भी नहीं कह सकते। उसका संकेत, अस्तित्व बोध 'है' रूप से ही किया जा सकता है। वह निर्विकल्प परमपद है। यहाँ चरम वेदान्त का भी उपसंहार हो जाता है। यही है पूर्णत्व।

भगवान पतंजलि के अनुसार विवेकज ज्ञान ही पूर्ण ज्ञान स्वरूप है। वह क्षण मात्र में अक्रम रूप से, भूत-भविष्य—वर्त्तमानादि समस्त का अवलम्बन लेकर प्रकाशित हो जाता है। इसमें सब कुछ है। अक्रम है। यह किसी उपदेशक द्वारा उपदिष्ट भी नहीं किया जा सकता। स्वप्रतिभा से स्वयमेव उद्घाटित होता है। यही तारने वाला तारक ज्ञान है। इस विशुद्ध ज्ञान को आत्मा से व्यतिरिक्त अन्य कोई दे भी नहीं सकता। इसे शास्त्रवचन अथवा गुरु की कोई अपेक्षा नहीं है। वेदव्यास के अनुसार केवल वर्तमान रूप क्षण की ही सत्ता रहती है। वहाँ क्षण क्रम है ही नहीं, परन्तु बहिर्मुख मनुष्य की बुद्धि में उसके क्रम की प्रतीति होती रहती है। अतः काल बौद्ध पदार्थ है। काल के ज्ञान से ही क्रम का प्रकाशन होता है। इसे व्यावहारिक ज्ञान कहा जाता है। क्षण ज्ञान में क्रम नहीं है। वह अपरिच्छन्न सर्वविषयक ज्ञानरूपात्मक है। शैवागम में भी क्रम शून्य प्रतिभा का संकेत दिया गया है—

या चैषा प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रमभाषिता ।
अक्रमानन्तचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः ॥

अभिनवगुप्ताचार्य के अनुसार पदार्थ का क्रम देश और काल के विचित्र सन्निवेश से उदित होता है। भगवान की स्वतंत्रतारूप देश-काल शक्ति से उसकी तुलना होती है। जैसे दर्पण प्रतिबिम्ब से रंजित होता है, उसी प्रकार स्वच्छ प्रतिभा भी रंजित हो जाती है। स्वप्रकाश रूप प्रतिभा में क्रम का सर्वथा अभाव रहता है। वह अन्तर्मुखीन, भेदविहीन एवं चित्स्वरूप है। प्रमाण तो मात्र बहिर्मुखी विज्ञान है। प्रतिभा को प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं रहती। वह प्रमाण बन्धन से मुक्त है।

त्रिपुरारहस्य के ज्ञानखण्ड में भी प्रतिभातत्त्व आलोचित है। प्रतिभा पूर्णतारूप श्री मां का परमरूप है। उसमें समग्र जगत् दर्पण में पड़े प्रतिबिम्ब के तुल्य उत्पन्न, अवस्थित तथा लीन रूपता से विद्यमान रहता है। अज्ञानी की दृष्टि में जो जगत् रूप है, ज्ञानी के सम्मुख वही निर्विकल्प आत्मस्वरूप ही है। यह द्वैतभाव से मुक्त है। देहादि दृश्य का आभास भी चित् स्वरूप आत्मा में नहीं रहता। उसमें 'अहम्' सत्ता अखण्ड रूप से विराजमान है। जब तक मन की सत्ता है, तब तक अनन्त अनुभूतियाँ होती रहती हैं। ध्यानादि स्थितियों में स्वाधिकारानुसार यह हृदय दर्पण से प्रस्फुटित होकर बहिर्गत होता रहता है। परमार्थसार के अनुसार भगवान की अनुग्रह शक्ति का तीव्रतम वेग से

संचार होने पर पशु जीव के हृदय कमल में, उस शक्ति का अवतरण होता है और सद्‌गुरु के श्री मुख से परमार्थ मार्ग की प्राप्ति के साथ तत्काल शिवत्व आयत्त हो जाता है। इसमें कोई भी विघ्न विक्षेपादि नहीं कर सकता। कुलतंत्र में कहा गया है—

हेलया क्रीड़या वापि चाद्वरद्वापि तत्ववित्,
यस्य स पातयेद् दृष्टिं, स मुक्तस्तत्क्षणात् प्रिये॥

अनुग्रह शक्ति जब हृदय को विद्ध करती है, तब महाज्ञान का रहस्य अक्रम रूप से, तक्षण, हृदय को आपूरित् कर लेता है, और तत्काल शिवास्वथा प्राप्त हो जाती है।

यह कहा जा चुका है कि ब्रह्मज्ञान में स्थिति हो जाने पर खण्डभाव की सत्ता समाप्त हो जाती है। जागतिक दृष्टि का द्वन्द्वात्मक भाव ब्रह्मदृष्टि में भासित ही नहीं हो सकता। ब्रह्म एक तथा अद्वितीय है। इस अखण्ड सत्ता का भान होने पर खण्ड ज्ञान अस्त हो जाता है। जहाँ द्वितीय का बोध ही नहीं है, वहाँ द्वन्द्व अथवा विरोध की सत्ता खोजने पर भी नहीं मिलती। उक्त है—

स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढ़म् ।
परस्परं विरुध्यन्ते तैरेयं न विरुध्यते ॥

द्वैतवादियों का अपने निज सिद्धान्त के प्रति दृढ़ आग्रह रहता है। अतः एक प्रकार का द्वैतवादी विद्वान अन्य सम्प्रदाय के द्वैतवादी विद्वान से विरोधात्मक चर्चा करता रहता है। एतद्‌विपरीत अद्वैतवादी का विरोध किसी से नहीं रहता। अद्वैतवादी सब को अपने से अभिन्न मानते हैं। जहाँ अभेद है, वहाँ विरोधात्मक स्थिति नहीं रहती। वे जानते हैं कि एक ही तत्त्व अनन्त रूप से परिलक्षित हो रहा है। सबके साथ अनन्य, अभिन्न होने के कारण आत्मा का एकत्व दर्शन विरोधात्मक स्थिति से परे का विज्ञान है। उक्त है—

सर्वानन्यत्वाद् आत्मैकत्वदर्शनं वस्तुषु न विरुद्धयते

यद्यपि एक ही वस्तु अनन्त रूपों से प्रकाशित होती रहती है, तथापि अनन्त वैचित्र्य में भी उस एकत्व भूत परमवस्तु का अद्वैतबोध तनिक भी क्षुण्ण नहीं होता। वैचित्र्य तथा नानात्व कल्पित एवं आरोपित है। एकत्व ही यथार्थ तथा सद्‌वस्तु रूप है। व्यवहार क्षेत्र में नानात्व का भान होता है। ब्रह्मदृष्टि में न तो नानात्व का तिरोधान होता है, न स्फुरण। सब कुछ एकत्वावस्था में स्फुरित होता है। यह ब्रह्मज्ञान ही पूर्ण ज्ञानरूप है। इसमें समस्त जागतिक द्वन्द्वों का समरसीकरण होने लगता है। बाहर-भीतर, अधः-उर्ध्व, अतीत-अनागत, सब कुछ एक हो जाता है। साकार-निराकार, सगुण-निर्गुण, सक्रिय-निष्क्रियादि द्वन्द्व एक के ही अन्तर्गत प्रतिभात होने लगते हैं। यही पूर्ण ब्रह्मज्ञान है, अखण्ड है। देश कालगत, आकारगत्, भावगत परिच्छेदों से असंम्पृक्त है, द्वितीय होकर अथवा द्वितीय रहते हुए महाज्ञान का उदय नहीं हो सकता। स्वयं ब्रह्म होने पर ही ब्रह्म का ज्ञान हो सकता है। द्वैत, नानात्व इसी महाज्ञान में स्वयं को प्रकट करता है। इस अवस्था में स्थिति हो जाने के अनन्तर पुनरावर्तन अथवा स्वरूपच्युति की आशंका ही नहीं रह जाती।

प्रथम भूमि है अज्ञानी संसारी की भूमि। **द्वितीय भूमि** में एकत्व का भान होता है। यह एकत्व विशुद्ध एकत्व नहीं है। विशुद्ध होने की अवस्था में यह कभी खण्डित ही नहीं होता। क्षण मात्र के लिये भी जो स्थिति भंग हो जाती हो, वह स्थिति पूर्ण स्थिति कदापि नहीं है। पूर्ण स्थिति का यह स्वरूप है कि वहाँ से लौटना नहीं होता। आचार्य गण ने इसे 'सकृद् विभात' कहा है। अर्थात् उसका एक ही बार प्रकाश होता है तथा वही प्रकाश चिरस्थायी हो जाता है। उसका पुनः-पुनः प्रकाश नहीं होता। प्रकाश के पश्चात् अप्रकाश आने पर पुनः-पुनः प्रकाश की संभावना रह जाती है। वैष्णवगण इसे शान्तोदित अवस्था कहते हैं। वास्तविक स्वरूप शान्तोदित न होकर नित्योदित रहता है अर्थात् पूर्ण अवस्था के उदय के अनन्तर उसका अवसान नहीं होता। इसके अनन्तर **तृतीय अवस्था** का वर्णन प्राप्त होता है। **तृतीय भूमि** में एकत्व के क्रोड़ में बहुत्व भासित होता है। अर्थात् ब्रह्म का आश्रयण किये हुये जगत् का आभास प्राप्त होने लगता है। इस अवस्था की यह विशेषता है कि इसमें सत्याश्रित मिथ्या का आभास मिलने लगता है। यह भी वास्तविक भेदाभेद अवस्था नहीं है। भेदाभेद अवस्था में भेद तथा अभेद दोनों ही सत्यरूपेण ग्रहीत होते हैं। यह समन्वय की दृष्टि है। एतद्विपरीत् इस तृतीय भूमि में अभेदत्व सत्यरूप है, क्योंकि वह ब्रह्म का स्वरूप है। भेदात्मक जगत् भासमान होने पर भी सत्य नहीं है। वह बाधितानुवृत्त है। सत्य का पारमार्थिक तथा व्यावहारिक, दोनों रूप होता है। सत्य में प्रतिभासिक रूप भी होता है। अब यह प्रश्न उत्थित होता है कि यदि तृतीय भूमि में ब्रह्म की गोद में भासमान जगत् प्रतिभासिक सत्य के रूप में गृहीत हो सकता है, अथवा नहीं। जगत् को सत्य मानने पर ब्रह्म के आश्रय से उसकी प्रकाशमानता को भी स्वीकार करना ही होगा। अंगी का आश्रय लेकर अंग की सत्ता को अनेक दार्शनिकों ने स्वीकार किया है। इस प्रकार इस संदर्भ में अनेक दृष्टिकोण हैं। संक्षेप में **चतुर्थ भूमि** ही अद्वैत भूमि रूप है। यहाँ द्वैत का भान तनिक भी नहीं रहता। लौकिक दृष्टि से जिसे द्वैत कहा जाता है, उसका अतिक्रमण करने पर प्राप्त अद्वैत स्थिति में तथा द्वैत को आत्मसात करने के अनन्तर प्राप्त अद्वैत गति में पारस्परिक भेद है। साथ ही यह भी सत्य है कि स्थिति के स्वरूपगत एकत्व के सम्बन्ध में प्रकाशांश के दष्टिकोण से किसी प्रकार के पार्थक्य का विश्लेषण नहीं किया जा सकता।

पूर्णब्रह्मभूमि साधक का अपना 'स्व' ही है। अतः पूर्णब्रह्मभूमि में स्थित होने पर अपने आपको, 'स्व' को ही प्राप्त किया जाता है। ब्रह्म को विश्वातीत कहते हैं। अतः सर्वतत्वमय विश्व का अतिक्रमण करना ही होगा। यह अतिक्रमण विश्वातीत, निर्गुण, निष्कल परब्रह्म के साक्षात्कार से सम्पन्न करा देता है। यह एक विचारधारा है। अन्य विचारधारा के अनुसार विश्वजगत् के प्रत्येक अणु-परमाणु में उसी परब्रह्म का प्रकाश विराजमान है। अतएव जगत् भी ब्रह्म ही है। विश्व भी ब्रह्म है, विश्व से बाहर भी ब्रह्म ही है अतः विश्वोतीर्ण होकर ब्रह्म साक्षात्कार करने की कोई आवश्यकता ही नहीं है। वही ब्रह्मसत्ता समग्र विश्व में देदीप्यमान है। अतः भीतर और बाहर समान

है। साकार निराकार अभिन्न है। केवल साकार दर्शन अथवा मात्र निराकार दर्शन से ब्रह्म साक्षात्कार हो सकता है, तथापि उसे पूर्णब्रह्म साक्षात्कार की संज्ञा नहीं दी जा सकती। यही सर्वांगीण ब्रह्म दर्शन भी कहा जा सकता है।

स्वरूप की विवेचना करते समय स्वरूप ज्ञान तथा वृत्ति ज्ञान का पारस्परिक भेद भी हृदयंगम करना उचित प्रतीत होता है। वृत्ति ज्ञान को परिणाम कहते हैं। जैसे वायु के आघात से स्थिर जल में भी तरंग की स्थिति प्रकट हो जाती है, वैसे ही विषय के वेग के कारण चित्त की परिणति वृत्ति रूप में होने लगती है। इसे ही वृत्ति ज्ञान कहते हैं। वृत्ति ज्ञान चित्त का ही परिणाम है। यह विषय के आकार को ग्रहण करते हुए साकार हो जाता है। इसका स्वयं का आकार नहीं रहता। इस वृत्तिज्ञान को स्वरूप से प्रकाश मिलता है। स्वरूप ज्ञान के अभाव में वृत्तिज्ञान की कोई सत्ता नहीं रहती, परन्तु वृत्तिज्ञान के अभाव में भी स्वरूप ज्ञान स्थित रहता है। किंबहुना, चित्तवृत्ति के आत्यन्तिक निरोध के अनन्तर ही स्वरूपज्ञान का साक्षात्कार होता है। स्वरूपज्ञान स्वयं प्रकाश है। अपनी ही दीप्ति से देदीप्यमान होता रहता है। वृत्ति ज्ञान पराश्रित है। वह स्वरूपज्ञान की सत्ता को लेकर ही सत्तान्वित है। अतः इसे परप्रकाश कहते हैं।

✤

श्रवण

श्रवण के दो भेद हैं। प्रथम के अन्तर्गत् श्रोता अन्य के मुख से सुनता है। यह श्रवण एक प्रकार का श्रवण है। अन्य श्रवण वह है जिस में श्रोता पूर्ण श्रद्धा के साथ सुनता है तथापि उसके समझ में कुछ भी नहीं आता। साधारणत: जो समझ में नहीं आता उसे कोई भी सुनना नहीं चाहता। यह लौकिक नियम है। आध्यात्मिक जगत् में श्रवण को साधनांग माना जाता है। उनके लिये श्रवण निरपेक्ष साधना है। श्रवण का विषय (Subject) चित्ताकर्षक न होने पर भी वाक्य के नैसर्गिक तथा आध्यात्मिक प्रभाव के कारण उसे सुनना विहित माना जाता है। यहाँ यह भी धारणा व्याप्त है कि यदि श्रवणगत भाषा अथवा विषय को श्रोता नहीं समझता, उस स्थिति में उससे कोई फल नहीं मिलता। यह धारणा सर्वमान्य नहीं है। क्योंकि श्रवणगत विषय श्रोता की बुद्धि, विचार अथवा सिद्धान्त की अपेक्षा के लिये नहीं है। वेद अपौरुषेय हैं। महापुरुषों के वाक्य उनकी अनुभूति से ओतप्रोत रहते हैं। इन वाक्यों में गुप्त चैतन्य शक्ति निहित रहती है। ये वाक्य लौकिक शब्द रूप हैं ही नहीं। इन वाक्यों के स्पन्दन मात्र से मनुष्य का जीवन परिवर्तित होने लगता है। इन वाक्यों में निहित चेतना शक्ति को प्राप्त करने के लिये पूर्ण श्रद्धा के साथ इन वचनों को सुनते रहना चाहिये। शुद्ध श्रद्धा से सिंचित होने से इन वाक्यों की चैतन्यशक्ति पुनर्जाग्रत हो उठती है। वह अपना आत्मप्रकाश करने लगती है। इनकी शक्ति से देह, प्राण तथा मन का आवरण दूर होने लगता है।

अत: समझ में न आने पर भी भगवद्वाणी तथा महापुरुषों की वाणी को श्रद्धा के साथ सुनते रहना चाहिये। यह सुनना कभी निष्फल नहीं होता। अनेक बार सुनने से साधक के अन्त:करण का आवरण हटने लगता है। अत: समझ में न आने पर सत्कथा, सत्प्रसंगादि को सुनना चाहिए। अनुभव में न आने पर भी, केवल सुनने मात्र से अनुभव मार्ग उन्मुक्त होने लगता है। सद्ग्रन्थ का पाठ, सत्कथा श्रवण एवं सत् कीर्तन, स्थूल दृष्टि से परस्परतया विभिन्न प्रतीत होने पर भी गुण में अभिन्न है। सभी का अवलम्बन है भगवत् प्रसंग। जिसकी जिस सत्प्रसंग में अभिरुचि होती है, वह उसे सुनता है। यथार्थ श्रवण होने पर मनन का कार्य स्वत: होने लगता है। मनन का उद्देश्य है संशय को हटाना। मनन ही दृढ़ निश्चयोपरान्त कार्य रूप में परिणत होने लगता है। अनुभव शून्य (समझ में न आने वाले) श्रवण से ही पूर्ण अनुभव का प्रकाश हो जाता है।

✤

शून्यवाद तथा विज्ञानवाद

शून्यवाद तथा विज्ञानवाद, माध्यमिक एवं योगाचार सम्प्रदायों के सिद्धान्त कहे जाते हैं। अद्वैतवाद इनका प्राण है। शून्यवाद एक प्राचीन मत है। नागार्जुन तथा तदनुगामी आर्यदेव आदि ने प्रज्ञापारमितादि के आधार पर उसका प्रचार किया था। इनका कथन है कि सद-असद आदि चतुष्कोटियों से शून्य, निर्विकल्प, निष्प्रपन्च आकाशवत् निर्लेप तथा असंग सत्य ही शून्यपद्वाच्य है। वह अनुत्पन्न, अविरुद्ध, अनुच्छेद, अशाश्वत आदि विशेषणों द्वारा कथित है। वही पारमार्थिक सत्य है और बुद्धि से अगोचर भी है। सत्य का एक अन्य स्वरूप भी है, वह बुद्धि अथवा संवृत्तिरूप है। बुद्धि मात्र ही विकल्पात्मक है। विकल्प अवस्तुग्राही है, अत: अविद्यात्मक है। अविद्या संसृति का नामान्तर है। अत: यह निश्चित हो जाता है कि बुद्धि में ऐसा कोई सामर्थ्य नहीं है कि वह पारमार्थिक सत्य को यथार्थत: ग्रहण कर सके। यथार्थ बात तो यह है कि पारमार्थिक पदार्थ संवृत्तिक ज्ञान का विषय हो ही नहीं सकता। जो पदार्थ सांवृत्तिक ज्ञान का विषय होता है, वह परमार्थ से विलक्षण है। अविद्या या संवृत्ति का कहीं-कहीं मोह अथवा विपर्यास रूपेण भी विवरण प्राप्त होता है। आर्यशालिस्तम्बसूत्र में यह तत्वत: अप्रतिपत्ति, मिथ्याप्रतिपत्ति तथा अज्ञान शब्द से मंडित है। माध्यमिकों के मतानुसार इसके दो कार्य हैं, प्रथम है स्वभावदर्शन का आवरण बनाना तथा द्वितीय है असत्पदार्थ स्वरूप का आरोपण करना। उक्त है—

अभूतं ख्यापयत्यर्थं, भूतमावृत्य वर्त्तते ।
अविद्या जायमानेव, कामलातङ्कवृत्तिवत् ॥

संवृत्ति द्विविध है। **तथ्य संवृत्ति**—प्रतीत्यसमुत्पाद घट, पट आदि वस्तुओं का स्वरूप जिस समय अदृष्ट इन्द्रियों द्वारा उपलब्ध होता है, उस समय लौकिक दृष्टिकोणानुसार वह सत्य माना जाता है। यही तथ्य संवृत्ति रूप हैं। **मिथ्या संवृत्ति**—मायामरीचिका, प्रतिबिम्ब आदि प्रतीत्यजात होने पर भी जब दृष्ट इन्द्रियों से उपलब्ध होते हैं, तब लौकिकतया मिथ्या कहे जाते हैं। यही मिथ्या संवृत्ति है। संवृत्ति सत्य का स्वरूप लौकिकतया अवितथ (सत्य) है। पारमार्थिक दृष्टि से यह असत्य है। यद्यपि यह किसी प्रकार लौकिकतया सत्य कहा गया है, तथापि पारमार्थिक सत्य अथवा तथ्य में उसकी गणना नहीं की जा सकती। पारमार्थिक सत्य आर्यगण तथा योगीगण के लिये विसंवादशून्य सत्य है। इन उभय सत्यों के आधार पर ही बुद्धगण जीव समूह को धर्मोपदेश देते हैं। सभी बाह्य तथा आध्यात्मिक पदार्थों के दो स्वभाव कहे जाते हैं। प्रथम है सांवृत्तिक, द्वितीय है पारमार्थिक। इनमें से एक की सत्ता पृथकजनों के मिथ्यादर्शन के विषय रूप में प्रकाशित होती है। ये सभी पृथग्जन अभूतार्थदर्शी कहे जाते हैं। इनका बुद्धिनेत्र अविद्या जनित अन्धकार से आच्छन्न रहता है। तत्ववित् आर्यों के सम्यग्दर्शन के विषयरूप में दूसरे की सत्ता आविर्भूत होती है। इनका

सम्यक्ज्ञान रूप नेत्र अविद्यापटल के प्रविचय रूप अञ्जनशलाका से छिन्न होने के कारण उन्मीलित रहता है।

दुःख, समुदय (दुःख का कारण), निरोध (दुःखनिवृत्ति) तथा मार्ग (दुःखनिवृत्ति का उपाय) ये चतुर्विध सत्य भी वास्तव में दो ही हैं। दुःख समुदाय तथा मार्ग, संवृत्ति स्वभाव होने के कारण संवृत्ति सत्य के अन्तर्भूत होते हैं। एकमात्र निरोध ही परमार्थ सत्य है। सूक्ष्मानुशीलन से ज्ञात होता है कि ये दो सत्य भी वास्तविक नहीं हैं। संवृत्ति लौकिक प्रतीति के कारण ही सत्य कही गयी है। वास्तव में परमार्थ ही एकमात्र सत्य रूप है। उक्त है:

''वस्तुतस्तु परमार्थ एव एकं सत्यम्। अतो न काचित् क्षतिः। यथोक्तं भगवता एकमेव भिक्षवः परमं सत्यं यदुक्ताग्रमोषधर्म निर्वाणं सर्वसंस्काराश्च मृषामोषधर्माण।''

इस वचन से सिद्ध होता है कि माध्यमिक मत में अद्वय ही तत्व है। वह अवाच्य है, तथापि दृष्टान्त द्वारा उसे समझाया जा रहा है—

अनक्षरस्य धर्मस्य, श्रुतिः का देशना च का ।
श्रूयते देश्यते चार्थः, समारोपादनक्षरः ॥

व्यवहार के आधार पर परमार्थ का उपदेश होता है। परमार्थ की उपलब्धि होने पर निर्वाण आयत्त हो जाता है। परमार्थ सत्य आर्यों के लिए संविदित स्वभाव है, अतः वह प्रत्यात्मबोध कहा जाता है। एकमेव योगी ही उसके ज्ञाता हैं। सांवृत्तिक सत्य के ज्ञाता प्राकृत जन हैं। सर्वधर्मानुपलम्भरूप समाधि ही योग पदवाच्य है। उक्त समाधि से सम्पन्न पुरुष को माध्यमिक शास्त्र में योगी कहा जाता है। प्राकृत जनों का अनुभव योगियों के अनुभव से बाधित होता है। निर्मल होने के कारण योगी का ज्ञान अनाश्रय ज्ञानमय है। यह स्मरण रखना चाहिये कि शुद्धचित्त होने के कारण योगी का ज्ञान प्राकृत जनों को बाधित कर देता है। योगियों में भी पारस्परिक तारतम्य है। इसका कारण यह है कि सभी योगियों में प्रज्ञा अथवा समाधि सम्पत्ति का उत्कर्ष यथासमान नहीं रहता। जिनका ज्ञाननेत्र जिस मात्रा में आवरण मुक्त होता है, उनमें उतनी मात्रा में उत्कर्ष की स्थिति रहती है। उदाहरणार्थ प्रमुदिता भूमि का ज्ञान उतना उत्कृष्ट नहीं है, जितना विमलाभूमि का होता है।

यह अद्वय परमार्थ सत्य शून्यवादियों के धार्मिक साहित्य में तथागत धर्म के नाम से प्रसिद्ध है। यह सभी स्वहित तथा परहित का आधार भी है। इसका कारण यह है कि जब तक इसका अवलम्बन नहीं मिलता, तब तक अपना कल्याण तथा अन्य का कल्याण साधन हो सकना असंभव सा है। वह अविद्या से अस्पृष्ट होने के कारण सर्वमल समूह से उन्मुक्त हो चुका है। एक ओर क्लेश रूप आवरण से तथा दूसरी ओर ज्ञेयरूप आवरण से रहित है। पुद्गल नैरात्म्य और धर्म नैरात्म्य की प्राप्ति ही उसका स्वभाव है। सम्यक् सम्बोधि के अभाव में अद्वय तत्व की उपलब्धि कैसे हो सकती है? सम्यक् सम्बोधि को प्राप्त करने के लिए प्रज्ञा की अतीव आवश्यकता रहती है। बौद्धों के अनुसार शुष्क प्रज्ञा से कोई लाभ नहीं हो सकता। पुण्यसंभार तथा

ज्ञानसंभार से ही प्रज्ञा की उत्पत्ति हो सकती है। दान, शील तथा क्षान्ति के दीर्घकालीन अभ्यास के फल से पुण्यसंभार का उदय होता है। वीर्य तथा समाधि के अभ्यास से ज्ञानसंभार का उन्मेष होता है। दोनों के प्रभाव से अर्थात पुण्य संभार एवं ज्ञानसंभार के प्रभाव से विशुद्ध प्रज्ञा उन्मिषित हो उठती है। क्रमशः प्रज्ञा की निर्मलता का सम्पादन करना पड़ता है। प्राथमिक प्रज्ञा साधनस्वरूप हेतु है। इसके प्रभाव से फलस्वरूपा यथार्थ प्रज्ञा आविर्भूत हो उठती है। साधन प्रज्ञा प्रथमतः श्रुतमयी, चिन्तामयी तथा भावनामयी होकर प्रकट होती है। इस अवस्था में साधक अधिमुक्त चरित्र कहा जाता है। तदनन्तर ज्ञानार्विभाव के साथ-साथ प्रज्ञा ही बोधिसत्वभूमि में प्रविष्ट होकर क्रमशः निम्न भूमियों का परिहार करते-करते, उर्ध्व भूमि को प्राप्त करके प्रकृष्टता लाभ करती है। अंतिम भूमि में राग आदि के साथ-साथ बोधिसत्व भूमि का अतिक्रमण हो जाता है। अब द्वैतभाव की समाप्ति हो जाती है। फलभूत बुद्धस्वरूप अद्वैत प्रज्ञा का उदय हो जाता है।

बोधिसत्व भूमि दशधा है, यद्यपि इनकी संख्या के विषय में मतान्तर भी परिलक्षित होता है। महायान साहित्य में प्रायः १० भूमियाँ मानी जाती है। दशभूमि सूत्र के अनुसार प्रभुदिता. विमला, प्रभाकारी, अर्चिष्मती, सुदुर्जया, अभिमुखी, हृदङ्गमा, अचला, मधुमती तथा धर्ममेधा, इन दस भूमियों के बाद तथागतभाव (बुद्धत्व) का विकास होने लगता है। **प्रथम** में दान पारमिता, **द्वितीय** में शील पारमिता, **तृतीय** में क्षान्ति पारमिता का अभ्यास करना चाहिए। इस तृतीय भूमि में चार रूपध्यान, चार अरूपसम्पत्ति, चार ब्रह्मविहार तथा पांच अभिज्ञाओं की प्राप्ति होती है। कामास्त्रव, भवास्त्रव तथा अविद्यास्त्रव का उच्छेद हो जाता है। **चतुर्थ** भूमि में ३७ बोधिपक्ष धर्म तथा वीर्यपारमिता का अभ्यास करना चाहिये। **पंचम तथा षष्ठ** भूमि में ध्यान तथा प्रज्ञापारमिता का अभ्यास करना आवश्यक है। षष्ट भूमि में ही योगी प्रतीत समुत्पाद्य तथा कार्यकरणभाव का ज्ञान प्राप्त करते हैं। इस अवस्था में संसार तथा निर्वाण की ओर चित्त का अभिमुख्य रहता है। **सप्तम भूमि** में योगी यह ज्ञात करता है कि सर्व बुद्ध ही धर्मधातु के दृष्टिकोण से एक अद्वैत तथा अखण्डतत्वरूप है। बुद्ध के अनन्तगुण उनमें प्रकट होने लगते हैं। असंख्य स्थान में अपने असंख्य शरीर समूह की प्रतीति होने लगती है। इस भूमि में दसों पारमिताओं का अभ्यास प्रति क्षण होता है। इस भूमि में शीलाभ्यास की समाप्ति हो जाती है। अब बोधिसत्व इच्छानुरूप निर्वाण में प्रविष्ट हो सकते हैं, किन्तु समस्त जगत का कल्याण करने का व्रत लेने के कारण निर्वाण ग्रहण नहीं करते और अनन्त बुद्धज्ञान में प्रविष्ट हो जाते हैं। उनके चारों प्रकार के विपर्यास निवृत्त रहते हैं। अब उपाय कौशल्य पारमिता का अभ्यास चलता है। **अष्टम भूमि** में अनुपपत्तिक धर्म क्षान्ति की प्राप्ति होती है। इसके प्रभाव से किसी भी प्रकार का कर्म स्पर्श नहीं हो सकता। अब चारों दिशाओं के बुद्ध आते हैं और इन्हें ज्ञान में दीक्षित करते हैं। यही ज्ञान अनन्त ज्ञान है। इस दीक्षा के प्रभाव से परोपकार का सामर्थ्य प्राप्त होता है। अन्यथा निर्वाण का महान् आकर्षण उन्हें खींच ले जाता है।

इस भूमि में सर्ववशित्व का लाभ होता है और प्रणिधान पारमिता का अभ्यास प्रारम्भ होता है। **नवम भूमि** में योगी अग्रगतिशील होते जाते हैं। अब योगी चार प्रतिसंविदों को प्राप्त करने के पश्चात् असंख्य समाधियों को आयत्त कर लेते हैं। धारणा द्वारा उनकी रक्षा होती है एवं बहुपारमिता का अभ्यास चलता है। तदनन्तर **दशम भूमि** रूप अंतिम भूमि में उनकी अभिषेक क्रिया निष्पन्न होती है। अब दिव्य, उज्ज्वल देह प्राप्त होती है। रत्नमण्डित दिव्य कमल का आसन मिलता है। उनके विशुद्ध ज्योतिर्मय शरीर से रश्मि निर्गमन होने लगता है। इसके प्रभाव से जीवसमूह की दुःख निवृत्ति होने लगती है। वे असंख्य निर्माण काय के द्वारा उपदेश देते हैं। अब ज्ञानपारमिता का अभ्यास चलता है। दशभूमियाँ अतिक्रान्त करने के कारण, अब वे ही दशभूमिश्वर हो जाते हैं। यही है पूर्णत्व, बुद्धत्व लाभ! बुद्धत्वलाभ ही योगी का चरम लक्ष्य है। बुद्धत्व ही प्रज्ञा का आत्यन्तिक उत्कर्ष कहा जाता है। आध्यात्मिक जन इस प्रज्ञा को सर्वाकारोपेत, सर्वधर्मशून्यताधिगमस्वभाव तथा निर्विकल्प कहते हैं। इसकी प्राप्ति के अनन्तर स्वदुःख एवं परदुःख की निवृत्ति हो जाती है। समस्त धर्म समूह स्वभावहीन हैं। यही शून्यता है। बुद्ध की अवस्था पाने के पश्चात् ही इसकी यथार्थ उपलब्धि हो सकती है।

शून्यवाद के अनन्तर विज्ञानवाद ने भी विशिष्ट दार्शनिक प्रस्थान में अपना अस्तित्व प्रकाशित किया है। विज्ञानवाद का मूलरूप लंकावतारसूत्र, सन्धिनिर्मोचन सूत्र, प्रभृतिग्रंथों में पूर्वकाल से ही विद्यमान था। साधारणतः मैत्रेयनाथ एवं आचार्य असंग को विज्ञानवाद का प्रचारक माना जाता है। उत्तर काल में असंग के भ्राता वसुबन्धु ने भी वैभाषिक सिद्धान्त का परिहार करते हुए विज्ञानवाद का प्रचार किया था। लंकावतार में भी परमार्थ तथा संवृत्ति का भेद प्रदर्शित है, तथापि नागार्जुन के माध्यमिक सम्प्रदाय के ग्रंथों में इस विषय पर सूक्ष्म विचार अंकित हैं। लंकावतार में इतनी सूक्ष्म विवेचना नहीं है। संवृत्ति सत्य परिकल्पित तथा परतंत्र सत्य स्वभाव के साथ सम्पृक्त रहता है। इन दोनों ज्ञान के अनन्तर परिनिष्पन्न ज्ञान प्राप्त होता है। इसका परमार्थ सत्य के साथ मूल सम्बन्ध है। परमार्थ को भूतकोटि भी कहते हैं। संवृत्ति को इसका प्रतिबिम्ब माना जाता है। लंकावतार मत के अनुसार बुद्धि दो प्रकार की है, यथा प्रविचय बुद्धि तथा प्रतिष्ठापिका बुद्धि। प्रविचय बुद्धि से पदार्थ तत्त्व ज्ञात होते हैं। सभी पदार्थ सत्, असत् आदि चतुःष्कोटि से युक्त हैं। प्रतिष्ठापिका बुद्धि से भेद प्रपंच आभासित होता है और सत् प्रतीत होने लगवा है। यह आपेक्षिक है। यह समारोप अथवा प्रतिष्ठापन व्यापार रूप है। लक्षण, इष्ट, हेतु तथा भाव इन चारों का आरोपण होने के कारण विवाद एवं विरोध का सूत्रपात होने लगता है। अतः दोनों पक्षों से अप्रभावित रहने के लिये योगीगण प्रतिष्ठापिका बुद्धि का अतिक्रमण करके उर्ध्वोत्थित हो जाते हैं। परतंत्र स्वभाव की क्रिया बाह्य सत्य सापेक्ष होती है, तथापि परिकल्पित के कारण दोषाविर्भाव होने लगता है। दोनों का स्वभाव परस्परतया एक-दूसरे के अधीन है। परतंत्र लक्षण स्वयंभूत नहीं है, वह हेतु प्रत्यय जन्य है। परिकल्पित लक्षण में ग्राह्य-ग्राहक भाव का स्पष्ट प्रादुर्भाव

होता है। विज्ञान के स्वरूप में ग्राह्यत्व तथा ग्राहकत्व का पूर्ण अभाव रहता है। ये दोनों परिकल्पित कहे जाते हैं। जब इन दोनों की निवृत्ति हो जाती है, तब वही परिनिष्पन्न अवस्था कही जाती है। परतन्त्र की सर्वदा परिकल्पित स्वभाव हीनता ही परिनिष्पन्नता है। लंकावतार के तात्पर्य को समझने के लिये, इस विवरण को पूर्णतः स्मृति में अंकित करना आवश्यक है। त्रैधातुक, अर्थात् काम, रूप तथा अरूप जगत् में विद्यमान चित्त तथा चैत्य ही अभूतपरिकल्प है। प्रथमतः जिस परिनिष्पन्न, परतंत्र तथा परिकल्पित लक्षणों का वर्णन किया गया है, वह सब अभूतपरिकल्प है। इस प्रकार यह उत्तम ज्ञान है। लंकावतार के मत से सम्पूर्ण भाव निःस्वभाव है। समग्र प्रपंच मेघ, अलातचक्र अथवा गन्धर्व नगर के समान है। कहीं-कहीं यह अनुपम मायामरिचिका अथवा स्वप्नरूप में भी वर्णित हुआ है। बाह्यवस्तु अनादि काल से ही भ्रान्ति जन्य मनोविजृम्भण मात्र है। लंकावतार का मत है कि इस दृष्टि से बाह्य सत्ता को देखने से विकल्प का बन्धन विच्छिन्न हो पाता है। तब ज्ञात होता है कि देह, मोक्ष, प्रतिष्ठा अर्थात् समग्र जगत् आलय विज्ञान अथवा चित्त का ही परिणाम है। अब दृष्ट और दृश्य के ज्ञान की निवृत्ति हो जाने पर निराभास अवस्था का उदय होता है, जिसमें द्वैतभाव का लेश मात्र नहीं रहता तथा मात्र स्फुरण ही होता है। तन्मयता के साथ चित्त भी अभेदत्व को प्राप्त हो जाता है। जन्म, स्थिति तथा नाश, अपने चित्त के ही भाव है। अतः इस अवस्था में नाम आदि का ज्ञान ही नहीं रहता। इस अवस्था के उदय के साथ-साथ संसार तथा निर्वाण में साम्यदृष्टि हो जाती है।

महाकरुणा, उपाय तथा अनायोग चर्चा—जिस प्रकार सूर्य समस्त वस्तु समूह के ऊपर समान रूपेण अपनी किरणों को फेंकते हैं, किसी के साथ पक्षपात नहीं करते, तदनुसार इनके द्वारा बोधिसत्व भी सब कुछ देखते हैं, और जानते हैं कि प्रपंच मायिक है। छाया के समान अलीक है। यह बिना कारण उद्भूत होता है अर्थात् अकारणक्लृप्त है। वे जानते हैं कि चित्त के बाहर जगत् की सत्ता है ही नहीं। इसके अनन्तर उच्चतर भूमि में आरूढ़ होकर, इस प्रकार की समाधि को प्राप्त करते हैं, जिससे अपरोक्षतः अनुभूत होता है कि तीनों धातु (समग्र जगत्) ही चित्त मात्र है। इसे मायोपम समाधि कहते हैं। इसके अनन्तर वज्रबिम्बोपम समाधि का आविर्भाव होता है। इससे चित्त के समस्त आकारों की निवृत्ति हो जाती है। चित्त निराकार हो जाता है। ज्ञान की पूर्णता सम्पादित हो जाने के कारण, समस्त वस्तुओं में अजातत्व की अनुभूति स्पष्टतया होने लगती है। यही उचित समय है जिसमें बुद्धकाय की प्राप्ति होती है। इसे भूततथता में अवस्थिति भी कहते हैं। अब योगी दश बल, छः अभिज्ञा तथा १० वशित्व को आयत्त कर लेते हैं। वे एक साथ असंख्य रूप में प्रकट हो जाते हैं। वे समस्त बुद्ध क्षेत्रों का दर्शन करते हैं। दार्शनिक मतवाद, चित्तमल तथा विज्ञान से मुक्त होकर स्वान्तर्गत् परावृत्ति का अनुभव करने लगते हैं। तदनन्तर शनैःशनै तथागत काय (बुद्धकाय) में विशुद्ध रूपेण अवस्थित हो जाते हैं। बुद्धकाय में अवस्थित होने के लिये स्कन्ध, धातु, आयतन, कारण, कार्य, नीति, जन्म, स्थिति तथा विनाश आदि

से दूर रहते हुये, चित्तमात्र से प्रतिष्ठित होना आवश्यक है। संसार अनादि कालीन वासनाओं के प्रभाव से चित्तमात्र विकल्पवशात् उद्भूत हुआ है। एतद् विपरीत बुद्धत्व निराभास, अजात तथा स्वसंवेद्य है। चित्त के पूर्ण संयम और अनाभोग चर्या द्वारा बुद्धभाव का अधिगम होता है। लंकावतार में वर्णित पांच धर्मों में तथता सर्वश्रेष्ठ है। जब मन नाम (संकेत) तथा निमित्त (इन्द्रिय ग्राह्य विषयों के गुण) प्रभृति धर्मों के द्वारा स्पष्ट न होने से शान्त रहता है, उस समय ही यह अवस्था उदित होती है। सम्यक् ज्ञान रूप धर्म द्वारा नाम और निमित्तमय जगत् का पर्यवेक्षण करने से यह ज्ञात होता है कि यह सब सत् भी नहीं है। असत् भी नहीं है। वह सब समारोप तथा अपवाद से परे हैं, अर्थात् इसके विषय में न कुछ विधान ही किया जाता है और न कुछ निषेध ही किया जा सकता है। विकल्परूप धर्म भी उस काल में नहीं रह जाता। अतः वस्तु और गुण का पारस्परिक भेद ग्रहण भी समाप्त होने लगता है।

निर्वाण के सम्बन्ध में इस ग्रंथ का कथन है कि यह यथाभूतार्थस्थान दर्शन से ही प्राप्त होता है। यह सर्व विकल्पातीत है। आलय विज्ञान में अनादि काल से असंख्य वासनाएँ विद्यमान हैं। ये वासनायें जब तक अविद्या, मिथ्यादृष्टि, अभिनिवेश आदि से रंजित रहती हैं, तब तक सत्य रूप तथता का दर्शन सम्यक् रूपेण नहीं हो सकता। अतः निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी कारण इच्छेद्य दृष्टि, शाश्वत दृष्टि, भवदृष्टि तथा अभवदृष्टि रूप विकल्प जाल का परिहार करके आलय का संशोधन करना चाहिए। यही आलय परावृत्ति रूप है। महायान मत में संसार तथा निर्वाण में पारस्परिक भेद नहीं है। महायान मतावलम्बी जागतिक सत्ता का आत्यन्तिक विनाश स्वीकार नहीं करते। जिस मार्ग से निर्वाण प्राप्ति होती है, उसके प्रभाव से उस सत्ता का ध्वंस नहीं होता, मात्र आलय की परावृत्ति ही होती है। वह सत्ता बुद्धकाय घटक उपादान में परिणत हो जाती है।

महायान मत के ग्रंथ महायान संग्रह में आलय परावृत्ति का वर्णन किया जाता है। तदनुसार धातु अथवा सत्ता का जिस अंश में आवरण संस्कार तथा संक्लेश विद्यमान है, उस अंश के हेतु फलभाव की निवृत्ति तथा धर्म से आरोपित भाव निवृत्ति होते ही समस्त आवरणों का उच्छेद हो जाता है। समस्त धर्म का दूसरा स्वभाव अभिव्यक्त होता है, जिससे शुद्धि अथवा व्यवदान की स्थिति संचरित हो जाती है। परावृत्ति का विशेष विवरण महायान सूत्रालंकार में अंकित है। सत्ता के बुद्धकाय घटक उपादान में परिणत हो जाने पर सभी पदार्थ शून्य (स्वभाव रहित) हो जाते हैं। यही है नित्य अपरोक्ष दर्शन का स्वरूप। आलय परावृत्ति की सिद्धि हो जाने पर ज्ञात होता है कि निर्वाण निधर्मक तथा निर्विशेष है। इसमें हानि-लाभ, त्याग-ग्रहण तथा एकत्व-नानात्व की सत्ता ही नहीं है। यहाँ स्मरणीय है कि हीनयानी धारा में निर्वाण संसार से विलक्षण होता है। लंकावतार के मत से संसार तथा निर्वाण में कोई भेद उपलब्ध नहीं होता।

यहाँ संक्षिप्त रूप से लंकावतार सूत्रस्थ दार्शनिक सिद्धान्त की आलोचना की गयी है। सन्धि-निर्मोचन सूत्र में योगाचार मत आलोचित हुआ है। इसके पश्चात्

बोधिसत्व मैत्रेयनाथ, असंग, वसुबन्धु आदि दाशनिकों ने योगाचार सिद्धान्त का विशेष परिष्कार कर विभिन्न ग्रन्थों का निर्माण किया, जिसमें पाँच ग्रंथ विशेष उल्लेख योग्य हैं। इनमें भी मध्यान्तविभागसूत्र अन्यतम है। महायान सूत्रालंकार का कारीकांश भी मैत्रेयनाथ द्वारा विरचित है। पहले यह ग्रंथ असंगकृत् माना जाता था। योगाचार्य भूमिशास्त्र भी मैत्रेयनाथ द्वारा ही रचित है। सुप्रसिद्ध ग्रन्थ बोधिसत्व भूमि भी इसी का भाग है। असंगकृत् महायान संग्रह भी एक उत्तम रचना है। वसुबन्धु ने अपने ज्येष्ठ भ्राता के लोकोत्तर प्रभाव से प्रभावित होकर सर्वास्तिवाद से सम्बन्ध विच्छेद किया था। इसके अनन्तर वे योगाचार प्रतिपादक ग्रंथ निर्माण में प्रवृत्त हो सके थे। विज्ञप्ति मात्रता सिद्धि सम्बन्धित विंशिका तथा त्रिंशिका नामक दो पुस्तकें, मध्यान्त विभाग सूत्र भाष्य तथा महायान-सूत्रालंकार वृत्ति ग्रंथ वसुबन्धु रचित हैं। स्थिरमति ने वसुबन्धु रचित त्रिंशिका तथा महायान सूत्रालंकार वृत्ति पर भाष्य भी किया है और मध्यान्त विभाग सूत्र भाष्य के ऊपर टीका भी लिखी है।

विज्ञानवादियों के मत से क्लेशावरण तथा ज्ञेयावरण की निवृत्ति से ही परमार्थ लाभ हो सकता है। जब तक इन दोनों आवरणों की सत्ता रहती है, तब तक मोक्ष अथवा सर्वज्ञत्व की प्राप्ति हो सकना असंभव है। क्लेश को मोक्ष अथवा सर्वज्ञत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती। उसकी प्राप्ति के लिए ज्ञेयावरण का समाप्त होना आवश्यक है। अज्ञान द्विविध है, यथा अक्लिष्ट एवं क्लिष्ट। क्लेश की निवृत्ति के साथ-साथ क्लिष्ट अज्ञान की निवृत्ति तो हो जाती है, परन्तु अक्लिष्ट अज्ञान विनिवृत्त नहीं होता। मुक्तावस्था में भी अक्लिष्ट अज्ञान की निवृत्ति नहीं हो सकती। अक्लिष्ट अज्ञान की निवृत्ति होने पर सर्वाकारक, आसक्तिहीन तथा अप्रतिहत ज्ञान की प्रवृत्ति होने लगती है। सर्वज्ञत्व लाभ करने के लए यह प्राथमिक अवस्था है। आत्मदृष्टि से राग आदि क्लेश उत्पन्न होते हैं। जब साधक पुद्गल नैरात्म्यज्ञान में प्रतिष्ठा प्राप्त करता है, तब सत्काय दृष्टि अथवा देह बोध की निवृत्ति हो जाती है। यही मुक्तावस्था है। तदनन्तर धर्म नैरात्म्य ज्ञान से द्वितीय प्रकार का आवरण (ज्ञेयावरण) कट जाता है। अब सर्वज्ञत्व अधिगत हो जाता है।

आत्मा, जीव, जन्तु, मनुष्य को आत्मोपचार कहा गया है। स्कन्ध, धातु, आयतन, रूप वेदना, संज्ञा, संस्कार तथा विज्ञान को धर्मोपचार कहते हैं। दोनों उपचार विज्ञान के परिणाम मात्र हैं। विज्ञान से बाहर इनकी सत्ता नहीं है। अर्थात् विज्ञान के परिणाम से अतिरिक्त आत्मा अथवा धर्म को नहीं माना जा सकता। अन्यथाभाव का ही नामान्तर परिणाम है। आत्मादि विकल्प वासनाओं की पुष्टि होने से आलय विज्ञान से आत्मादि का निर्भासमय विकल्प उत्पन्न होता है। इसी प्रकार रूपादि विकल्प वासना की पुष्टि से आलय-विज्ञान से ही रूपादि निर्भासमय विकल्प की उत्पत्ति होती है। इस रूपादि निर्भास को अथवा आत्मादि निर्भास को विज्ञान बहिर्भूत के सदृश मानकर रूपादि उपचार, व्यपदेश, अनादि काल से प्रवृत्त है। रूपादि अथवा आत्मादि के न रहने पर भी तादृश उपचार अनादि काल से ही है। वास्तव में जहाँ जो वस्तु नहीं है,

वहाँ उसका उपचार होता है। आत्मा तथा धर्म विज्ञान के बाहर होने के कारण परिकल्पित हैं और पारमार्थिक सत्य नहीं हैं।

किसी के मतानुसार विज्ञान एवं विज्ञेय, दोनों ही सत्य हैं, तथापि यह एकान्तवाद उचित नहीं है। कारण, आत्मा तथा धर्म परिकल्पित हैं, अतएव वे विज्ञान के अन्दर अथवा बाहर, है ही नहीं। इसी कारण विज्ञेय को आत्मा या धर्म सत्य नहीं कहा जा सकता। एतद्विपरीत उपचार निराधार नहीं होता। यह विज्ञान परिणाम है। विज्ञान परिणाम में आत्मा तथा धर्म का उपचार हो सकता है। किसी के मत से जैसे विज्ञेय सांवृत्तिक अथवा मिथ्या है, तद्वत् विज्ञान भी मिथ्या ही है। यह मत सम्यक् मत नहीं है। उपादान को संवृत्ति रूप मानना उचित नहीं है। विज्ञानवादी जन कहते हैं कि परिणाम शब्द से प्रतीत होता है कि परिणाम 'प्रतीत्यसमुत्पाद' है। बाह्य अर्थ के व्यतिरेक से ही विज्ञान अर्थ के रूप में भासित होने लगता है। संशय रहित बात है, तथापि यह नहीं कहा जा सकता कि विज्ञान बाह्यार्थ से उत्पन्न होता है। सिद्धान्त यह है कि बाह्यार्थ स्वाभास ज्ञान का जनक है। कारणता आलम्बन प्रत्यय के अनुरूप समानान्तर आदि सभी प्रत्ययों में समरूपेण विद्यमान रहती है। विज्ञान का परिणाम विपाक, मनन तथा विषय विज्ञप्ति रूप से त्रिविध है। कुशल तथा अकुशल कर्मवासना के परिपाक से अपेक्षानुरूप फलाभिनिवृत्ति विपाक नाम का परिणाम ही है। इसका न(मान्तर है आलय विज्ञान। जितने प्रकार के क्लिष्ट धर्म हैं, सभी इसी बीज से समुत्पन्न होते हैं। इस आलय विज्ञान की प्रवृत्ति दो प्रकार से होती है आध्यात्मिक तथा आभ्यन्तरीण एवं बाह्य।

प्रवृत्ति विज्ञान तथा आलय विज्ञान में पारस्परिक भेद भी दृष्टिगोचर होता है। प्रवृत्ति विज्ञान का आकार तथा आलम्बन परिच्छिन्न है, परन्तु आलयविज्ञान का आकार अथवा आलम्बन अपरिच्छिन्न रूप है, विज्ञान परिणाम का द्वितीय भेद है, मनन अथवा क्लिष्टमन। इस मन का स्वभाव है, सर्वदा मनन करना। जैसे चक्षुरादि विज्ञान के आश्रय चक्षुरादि इन्द्रियां हैं तथा उनके रूप आदि उसके सहयोगी हैं। उसी प्रकार क्लिष्ट मन का भी आश्रय आलय विज्ञान ही है। कारण आलय विज्ञान अथवा विपाक जिस धातु अथवा भूमि में रहता है, क्लिष्ट मन भी रहता है। क्लिष्ट मन की गति वृत्ति आलयविज्ञान से नियत एवं सम्बद्ध है। आलय में स्थित होकर ही क्लिष्ट मन अपना कार्य करता है। जिस आलय अथवा चित्त से मनोविज्ञान की उत्पत्ति होती है, उसी चित्त को उस मनोविज्ञान के लिए आलम्बन मानना चाहिये। मननाख्य विज्ञान का नामान्तर है 'मन'। यह आलय तथा प्रवृत्ति विज्ञान से भी पृथक् ही है। इसका स्वभाव है मनन। यह विज्ञानात्मक है। अत: सभी प्रकार के चित्तधर्म से इसका सम्प्रयोग होता है। चित्तधर्म द्विविध होते हैं, क्लेश तथा क्लेशभिन्न। छ: प्रकार के क्लेशों में से चार का सम्बन्ध मन से रहता है। इसके नाम हैं अविद्या अथवा आत्ममोह। यह आत्म विषय में अज्ञान का नामान्तर है। द्वितीय है आत्मदृष्टि, यह उपादान स्कन्ध में आत्मदर्शन का नामान्तर है। इसे सत्काय दृष्टि भी कहा जाता है।

तृतीय है, अस्मिमान अथवा आत्ममान। आत्मदृष्टि से चित्त की जो उन्नति होती है वही अस्मिमान है। चतुर्थ है तृष्णा अथवा आत्मस्नेह। पूर्वोक्त क्लेशत्रय के रहने से आत्माभिमत वस्तु में जो अभिष्वङ्ग उत्पन्न होता है, वह तृष्णा है। आलयविज्ञान के स्वरूप में सम्मोह होकर उसमे आत्म दृष्टिलाभ होता है। आत्मदृष्टि से चित्त में अस्मिमान का उदय होने लगता है। क्लेश अकुशल तथा निवृत्याव्याकृत रूप से दो प्रकार का होता है।

विज्ञान परिणाम का तृतीय भेद है। विषय विज्ञप्ति चक्षुरादि षट्विध विज्ञान का अथवा विषय प्रत्यवभास का ही नामान्तर है विषय विज्ञप्ति। रूप, शब्द, गन्ध, रूप, स्पष्टव्य तथा धर्म, यह षट्विध विषयोपलब्धि ही तृतीय विज्ञान परिणाम है। यह उपलब्धि कुशल अथवा अकुशलरूप हो सकती है। इसके अतिरिक्त दोनों से भिन्न, अर्थात् अव्याकृत भी हो सकती है। अलोभ, अद्वेष, अमोह से युक्त विषयोपलब्धि को कुशल तथा लोभ, द्वेष और मोहमंडित उपलब्धि को अकुशल कहा जाता है। इस तृतीय प्रकार के विज्ञान परिणाम में दो प्रकार के धर्म रहते हैं। **प्रथम है सर्वत्रगधर्म,** अर्थात् मनस्कार, चित् संज्ञा और चेतना के पाँच प्रकार के धर्म आलय में, क्लिष्ट मन में तथा प्रवृत्ति विज्ञान में, सर्वत्र रहते हैं। **द्वितीय है विनियत धर्म**—अर्थात् ये धर्मविशेष में नियत हैं। सर्वत्र नहीं रहते। जैसे छन्द (अभिप्रेत वस्तु की अभिलाषा), अधिमोक्ष (निश्चित वस्तु में अवधारण)। स्मृति (संस्तुत वस्तु में चित्त का असंप्रमोष), समाधि (उपपरीक्षणीय वस्तु में चित्तैकाग्र्य) धी अर्थात् प्रज्ञा।

दर्शन, श्रवण आदि क्रिया के विषय रूप से जो वस्तु अभिमत है, वह अभिप्रेत वस्तु है। ऐसी वस्तु के विषय में दर्शन, श्रवण आदि की इच्छा को छन्द कहते हैं। युक्ति अथवा आप्तोपदेश से जो वस्तु निश्चित तथा गृहीत होती है, वही निश्चित वस्तु है। जिस आकार में कोई वस्तु निश्चित होती है, उसी आकार में उस वस्तु का चित्त में जो अभिनिवेश किया जाता है, वह अधिमोक्ष है। दीर्घकालीन अभ्यास द्वारा अधिमुक्ति अवस्था की प्राप्ति के अनन्तर दूसरे सिद्धान्त में आग्रह रखने वाले उसे अपने सिद्धान्त से नहीं हटा सकते। पूर्वानुभूत वस्तु को संस्तुत वस्तु कहा जाता है। आलम्बन ग्रहण के नष्ट हो जाने से असम्प्रमोष होता है। पूर्वगृहीत वस्तु का पुनः आलम्बन के रूप में स्मरण करना ही अभिलषनता है। इस अवस्था की प्रतिष्ठा के अनन्तर चित्त अन्य आकार में विक्षिप्त नहीं होता। वस्तु के गण अथवा दोष का निरूपण ही उपरीक्षण कहा जाता है। एकाग्रता होने पर चित्त के आलम्बन में भेद अथवा भेदाभास नहीं रह जाता। समाधि का सम्यक् अभ्यास करने से यथाभूत परिज्ञान होता है। अर्थात् यथार्थ ज्ञान का उदय होता है। छन्दाभ्यास से वीर्योदय, अधिमोक्ष से स्थिरता तथा स्मृति से विक्षेपनिवृत्ति हो जाती है। समाधि का फल है ज्ञानोदय।

इस प्रज्ञा या ज्ञान को विवेक कहते हैं। इसका विषयरूप स्वलक्षण भी कहा जा सकता है, अथच सामान्य लक्षण भी हो सकता है। बौद्ध दर्शन में इसको धर्मविचय कहते हैं। यह सम्यक्, मिथ्या अथवा संकीर्ण हो सकता है। यह ज्ञान कभी योग से तो

कभी अयोग से स्फुरित होता है। आप्तोपदेश, अनुमान तथा प्रत्यक्ष—इन्हें 'योग' कहते हैं। इसमें आप्तवचनजन्य बोध श्रुतमयी प्रज्ञा है। युक्ति प्रयोग से उदित बोध को चिन्तामयी प्रज्ञा तथा समाधिजन्य बोध को भावनामयी प्रज्ञा कहा जाता है। अनाप्तोपदेश, अनुमानाभास और मिथ्याप्रणिहित समाधि से जो ज्ञान स्फुटता को प्राप्त होता है, वह आयोगज ज्ञान में परिगणित होता है। उपपत्तिप्रतिलम्भिक ज्ञान, अर्थात् सहज ज्ञान या वह ज्ञान जो जन्म के साथ स्फुरित होता है, न तो अयोगज है और न योगज! लौकिक व्यवहार मूलक ज्ञान को भी इसी कोटि में रखते हैं। प्रज्ञा के द्वारा प्रविचय करने से जो ज्ञान प्राप्त होता है, उस निश्चय को संशय निवृत्तिपरक माना गया है। ये पंचधर्म परस्पर व्यापृत बने रहते हैं। अर्थात जहाँ एक धर्म रहता है, वहाँ अन्यान्य धर्म की सत्ता नहीं रहती। इन सत्रवर्ग और विनियत धर्मों के अतिरिक्त श्रद्धादि ११ कुशल धर्मों का वर्णन भी योगाचार शास्त्रों में प्राप्त होता है।

विज्ञानवादीगण के मत से तीन प्रकार का विपाक परिणाम ही है। अर्थाकार धारण करता हुआ विज्ञान समस्त विश्वरूप विकल्प बनता है। आलयविज्ञान, क्लिष्टमान और प्रवृत्ति विज्ञान के स्वभाव भेद से विकल्प त्रिविध हैं। जिस प्रकार त्रैधातुक विश्व विज्ञानात्मक है, उसी प्रकार असंस्कृत धर्म भी विज्ञानात्मक ही है। अनधिष्ठित मूल विज्ञान में कारण के अभाव में विकल्पों की प्रवृत्ति कैसे होती है? विज्ञानवादियों का उत्तर है कि आलयविज्ञान में सर्वधर्मोत्पत्ति सन्निहित रहती है। अतएव यह सर्वबीजरूप भी है। आभ्यन्तरीण अन्योन्य संघर्ष में यही आलयविज्ञान अनन्तरूप धारण करते हुए, तत्तद् विकल्परूप में परिणत हो जाता है।

योगाचारियों का निर्वाणरूप धर्मधातु पारमार्थिक सत्य है। इसमें ज्ञातृ ज्ञेयरूप अथवा अन्य भेदों की सत्ता ही नहीं रहती। योगी उस परिनिष्पन्न स्वभाव धर्मधातु का ध्यान करते-करते इसमें समाहित हो जाता है, तथा इसके साथ तादात्म्य प्राप्त करता है। जैसे जल को जल में ही मिलाने पर एकाकार हो जाता है, उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये। यही है विशुद्ध अद्वैत की परिस्थिति। बाह्य जगत् परिकल्पित स्वभाव है। इसमें सत्व (द्रव्य) तथा गुणादि का आरोपण होता है। यह परतंत्र स्वभाव रूप तथा **क्षणिक विज्ञानात्मक** है।

✤

श्वेतद्वीप (महागोलोक)

प्राचीन वैष्णव साहित्य में श्वेतदीप नाम अंकित मिलता है। पाञ्चरात्र आगम तथा विभिन्न प्राचीन वैष्णव ग्रंथों में इसका किंचित विवरण प्राप्त होता है। प्रसिद्धि है कि नारद को श्वेतदीप में नारायण दर्शन का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। वहाँ दर्शन प्राप्त करने पर उनके हृदय में प्रसन्नता होने लगी तथा आत्मतोष हुआ कि भगवान का प्रकृत दर्शन मिला। तभी आकाशवाणी ने कहा कि "नारद तुमने जिस स्वरूप का दर्शन किया, वह सत्य नहीं है, प्रत्युत मायिक है।"

"मायाह्येषा मया स्रष्टा यन्मां पश्यसि नारद" अर्थात् देवर्षि नारद ने जिस भगवत्स्वरूप का दर्शन किया, वह मायिक था।

श्वेतदीप के सम्बन्ध में अनेक मतामत प्राप्त होते हैं। वर्तमान विद्वत् समाज का मत अनुकरणीय नहीं है। समस्त मत लौकिक दृष्टिकोण पर आधारित होने के कारण वरेण्य मत नहीं हैं। वैष्णव सम्प्रदाय भी इस संदर्भ में एकमत नहीं है। अनेक संतों का मत है कि श्वेतद्वीप गोलोकधाम का ही नामान्तर है। इस महाद्वीप में साक्षात् रूप से भी उपस्थित हो सकते हैं तथा क्रममार्ग का अवलम्बन करके भी उपस्थित हो सकते हैं। श्वेतद्वीप (गोलोक) भगवत् प्रेम के आनन्दास्वादन का मुख्य स्थल है। जो क्रममार्ग से इसमें प्रवेश करते हैं, वे वैकुण्ठ भेदन के अनन्तर अर्थात् वहाँ के ऐश्वर्य तथा आनन्द का आस्वादन करने के पश्चात् यहाँ प्रवेश प्राप्त करते हैं। अधिक भाग्यवान साधक क्रममार्ग का आलम्बन किये बिना श्वेतद्वीप में प्रवेश प्राप्त करते हैं। श्वेतद्वीप चतुरस्त्र (चौकोर) है। यह पांचरात्र आगम का मत है।

महाभारतोक्त श्वेतद्वीप, जहाँ नारद को प्रवेश मिला था, मूल श्वेतद्वीप का आभास मात्र प्रतीत होता है। कारण, मूलश्वेतद्वीप द्विभुज नरदेहयुक्त श्रीकृष्ण की विहार भूमि है। अत: इसे गोलोक ही माना जाता है। नारद मुनि जहाँ गये थे, वहाँ के अधिष्ठाता थे चतुर्भुज नारायण। वैष्णों के मतानुसार नारायण मूर्ति तो श्रीकृष्ण मूर्ति का विलासमात्र है। ऐसे ही मूल श्वेतद्वीप का विलास है आभास रूप श्वेतद्वीप। यहाँ जिस चतुरस्त्र का वर्णन किया गया है, उसके भीतर एक और चतुरस्त्र विराजित है। इसे महावृन्दावन कहते हैं। वृन्दावन के मध्य में सहस्त्रदल कमलाकृति भूमि है। वही है गोकुल। उसके ठीक मध्य में भगवान् श्रीकृष्ण का निजधाम विद्यमान रहता है। महावृन्दावन तथा श्वेतद्वीप के मध्यस्थल में असंख्य दिव्यलोक समूह की अवस्थिति है। ये समस्त लोक समूह अनन्त-वैचित्र्य से परिपूर्ण रहते हैं। वहाँ के व्यक्ति भी विचित्र प्रकृतिसम्पन्न हैं। ये सब प्रत्येक लोक एक प्रकार के गोलोक कहलाते हैं। अर्थात् यह सब महागोलोक का ही खण्ड स्वरूप है। हमारे देश के मध्ययुगीन सन्तों को इन आनन्दमय लोकसमूह की अभिज्ञता प्राप्त हो चुकी थी।

✤

गति विज्ञान

मनुष्य से निम्न स्थिति के जीवों का कर्म सम्बन्ध नहीं रहता। इसका कारण यह है कि मनुष्येतर प्राणियों में अहंकार का विकास न होने के कारण उनका कर्म सम्बन्ध नहीं रहता। इस प्रसंग में मानवदेह से अवरोह क्रम से निपतित पशु-पक्षी आदि देहधारियों की बात नहीं कही जा रही है, क्योंकि जो अपकर्म के कारण मनुष्य योनि से पशु-योनि में गये हैं, उनका कर्म से कर्मफल भोग रूपी सम्बन्ध बना रहता है। जो कभी भी मनुष्य योनि में नहीं आये हैं अथच चौरासी लाख योनियों में क्रम विकास के कारण पशु-पक्षी आदि की देह प्राप्त कर रहे हैं, उनका किंचित् भी कर्म सम्बन्ध नहीं रहता। शास्त्रों में उनके लिये किसी भी लोक का विधान नहीं है। उनके लिए उपनिषदों में जायस्व, म्रियस्व ही कहा गया है। अतः उनकी गति विचारणीय नहीं है।

इसी प्रकार जो महापुरुष इसी देह में देहपात के साथ परामुक्ति प्राप्त करते हैं, उनकी भी कोई गति नहीं होती। उनके शुभाशुभ कर्म पूर्णतः दग्ध हो जाते हैं। अतएव उनकी मरणो-तरगति का प्रश्न ही नहीं उठता। वे लोग यथास्थित भाव में ही ब्राह्मी अवस्था प्राप्त करते हैं। देहपात के अनन्तर ऐसा कोई कर्म नहीं बचता, जिसके कारण उनकी गति हो। 'अत्रैव प्राणाः समवलीयन्ते' की उक्ति अक्षरशः सत्य है।

जिन साधक अथवा योगियों ने कर्मकाण्ड के अनुष्ठान के वैधमार्ग में सकाम भाव से जीवन व्यतीत किया है, जिनमें अभी ज्ञानोदय नहीं हुआ है, तथापि जिन्होंने निषिद्ध कर्म का परित्याग करते हुए सदा वैध कर्म ही किया है, मृत्यु के पश्चात् उन्हें पितृयान गति प्राप्त होती है। ये इसी गति से चालित होकर अपने कर्मानुरूप शुभ लोकों की प्राप्ति करते हैं। क्रमशः पुण्य क्षीण हो जाने पर स्वर्ग से च्युति होती है और साधारणतः सद्वंश में जन्म लेना पड़ता है। जन्म ग्रहण का कार्य जीवों के अवशिष्ट कर्म प्रभाव से होता है। पापी के सन्दर्भ में भी यही नियम है। पापी धूममार्ग से अत्यन्त कष्टकर पथ से होते हुए नरक में जाते हैं। नरक में नाना यंत्रणा का भोग होता है। स्वाभाविक देह में इतनी यंत्रणा का भोग संभव नहीं है। अतः नरक प्रवेश के पूर्व यातना देह की प्राप्ति होती है। दीर्घकाल पर्यन्त नरक निवास के अनन्तर वहाँ से छुटकारा पाने पर अनेक प्राणी पशु-पक्षी की देह धारण करते हैं। अन्त में मनुष्य देह की प्राप्ति होती है। ऐसे मनुष्यों के शरीर में नरक भोग के नाना प्रकार के चिह्न विद्यमान रहते हैं। कोई-कोई कठिन रोग धारण करके जन्म लेता है। यह सब व्यतिक्रम एकाधिक देह में निष्पन्न होता है। पुण्य की गति तथा पाप की गति को पुनरावर्तन की गति माना जाता है।

यहाँ जिस स्वर्ग की बात कही गयी है, वह निम्न स्तर का स्वर्ग है। यह सकाम पुण्यफल से प्राप्त होता है। इससे ऊपर उर्ध्व कोटि का स्वर्ग है। वह ज्ञानयुक्त कर्म से प्राप्त होता है। निम्न स्वर्ग कर्म के भोगस्थान मात्र हैं। निम्न स्वर्ग से पुण्य समाप्त होते

ही पतन होना सुनिश्चित सा है। निम्न से निम्नतर स्तर के स्वर्ग की संख्या असंख्य हैं। इसके अधिष्ठाता है इन्द्र। उर्ध्व स्वर्ग के अधिष्ठाता इन्द्र नहीं है। महर्लोक, तपोलोक, सत्यलोक आदि को उर्ध्व स्वर्ग कहा जाता है। ज्ञानकर्म का समुच्चय होने पर उर्ध्व स्वर्ग की प्राप्ति होती हैं। ज्ञान-शक्ति तथा ज्ञान के क्रमविकास से अत्युच्च उर्ध्व स्वर्ग प्राप्ति होती हैं। यह गति पितृयान मार्ग से कदापि प्राप्त नहीं होती। पितृयान मार्ग में शुभाशुभ कर्मों की गति होती है। कुछ दूर तक एक ही पथ से गति होती हैं, उसके पश्चात् पथ भिन्न-भिन्न हो जाते हैं। देवयान पथ की गति को शुक्ला गति कहते हैं। ज्ञानहीन कर्म से शुक्लागति नहीं प्राप्त होती। कर्महीन ज्ञान से भी शुक्लागति की प्राप्ति असंभव है। ज्ञानहीन कर्म स्वर्ग अथवा नरक की ओर आकर्षित करता है। कर्महीन ज्ञान-गति शून्य होता है। अत: ज्ञान एवं कर्म का समुच्चय होना अत्यावश्यक है।

यह समुच्चय दो प्रकार का होता है। प्रथम है सम समुच्चय, द्वितीय है विषम समुच्चय। सम समुच्चय में ज्ञान तथा कर्म की मात्रा सम होती है। विषम समुच्चय में दोनों की मात्रा समान नहीं रहती। कर्म अंगी रहता है और ज्ञान अंग का रूप धारण कर लेता है। ज्ञान और कर्म का मिश्रण ही गति प्रदान कर सकता है। कर्म तथा ज्ञान में किसकी प्रधानता है, यह निर्णय मुमूर्षु साधक की भावना करती है। इस समुच्चय में कर्म की मात्रा अधिक रहने पर जीवात्मा को मरणोत्तर गति में पथ के प्रत्येक पड़ावों पर रुकना पड़ता है। ज्ञानांश की बहुलता होने पर ऐसा नहीं होता। ज्ञानकर्म समुच्चय का अन्तिम स्थल है ब्रह्मलोक। विशुद्ध ज्ञान के फल से ब्रह्मलोक में गति नहीं होती। विशुद्ध ज्ञान की तनिक भी गति नहीं होती। ब्रह्मलोक में जिन्हें गति प्राप्त होती है, उनकी शेष वासना का क्षय ब्रह्मलोक में ही होता है। तदनन्तर उनको शुद्ध ब्रह्म की प्राप्ति होती है। ब्रह्मलोक में जीवन्मुक्तावस्था में अवस्थान किया जाता है। समस्त जीवन्मुक्त हिरण्यगर्भ के साथ सम्बन्धित रहते हैं। जो निम्न अधिकार के साथ ब्रह्मलोक में प्रवेश करते हैं, वे हिरण्यगर्भ के साथ सालोक्यावस्था प्राप्त करते हैं। उच्चतर अधिकारियों को सारुप्य की प्राप्ति होती है। उच्चतम अधिकारी सार्ष्टि तथा सामीप्य को आयत्त करने में समर्थ हो जाते हैं। जब महाप्रलयावस्था में ब्रह्माण्डनाश के साथ हरिण्यगर्भ की देह नष्ट हो जाती हैं, तब हिरण्यगर्भ के साथ-साथ उनके अंगीभूत जीव भी परब्रह्म के साथ अभेद को प्राप्त करते हैं। हिरण्यगर्भ के स्थान पर साधकगण अपने-अपने इष्ट को भी प्राप्त हो सकते हैं। अत: जहाँ-जहाँ हिरण्यगर्भ लिखा गया, उसे इष्ट ही समझना चाहिए।

✤

वर्णमाला तथा स्पन्दनात्मक क्रिया

जिसे स्व की अभिज्ञता नहीं है, उसका अन्य के संदर्भ में जो ज्ञान है, वह नितान्त भ्रान्तिपूर्ण ही कहा जा सकता है। प्रत्येक अपनी सत्ता से तुलनात्मक रूप से ही 'पर' का ज्ञान प्राप्त करता हैं, तथापि जब 'स्व' का ही ज्ञान-अज्ञानावृत्त है, तब 'पर' का ज्ञान भी भ्रान्ति से आच्छन्न ही कहा जा सकता है। अत: 'स्व' अभ्रान्त ज्ञान ही प्रत्येक व्यक्ति का एक मात्र कर्त्तव्य होना चाहिए। 'स्व' को जानते ही विश्व एवं विश्वातीत का भी ज्ञान आयत्त होने लगता है। जिसे 'स्व' अर्थात् आत्मा की अभिज्ञता अप्राप्त है, वह समस्त ज्ञान के रहते भी अज्ञानी ही है। सामान्यत: प्रत्येक को वही ज्ञान है, जो उसे इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त होता है। हमें ऐसी स्थिति की किंचित अभिज्ञता भी नहीं है, जिसमें हमें इन्द्रियों के माध्यम से ज्ञान न प्राप्त हो। वर्तमान में हमारे समक्ष इन्द्रियाँ ही वे माध्यम हैं जिनसे ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। यदि कोई ऐसा ज्ञान जिसे इन्द्रियों के माध्यम की अपेक्षा नहीं है, हमारे सम्मुख प्रकट होता है, उसे हम हृदयंगम ही नहीं कर सकते। इसका कारण यह है कि उस ज्ञान को ग्रहण करने का सामर्थ्य इन्द्रियों में नहीं है, और हम इन्द्रिय रहित ज्ञान की धारणा कर सकने में भी असमर्थ हैं। यही विडम्बना युग-युगान्तर से मानव को ग्रसती रहती है और पुनरावर्त्तन का चक्र चलता रहता है।

सामान्यत: मनुष्य अपना बोध देह के रूप में ही करने को विवश है। 'मैं' कहने मात्र से वह स्व शरीर की ओर दृष्टिपात करता है। अर्थात् 'मैं' शरीर से अभिन्न है। वह चक्षुरादि इन्द्रियों से युक्त, हस्तपादादि अंगों से मंडित देह रूपी नराकृति का ही 'मैं' का बोध करता है। यथार्थ सत्य तो यह है कि वह शरीर इन्द्रियादि से सम्पृक्त होने पर भी स्वरूपत: इनसे असम्पृक्त है। उसका स्वरूप वाणी, मन आदि का विषय है ही नहीं। उसकी सत्ता पूर्णत: देहातिरिक्त ही है। देह ज्ञातव्य विषयरूप है। देह का अनुभव करने वाला ज्ञाता है और ज्ञाता-ज्ञातव्य विषयरूप देह से सर्वथा पृथक् है। देह कदापि अहं का उत्पादक नहीं है। जीव की सत्ता देह के पूर्व तथा देहपात के अनन्तर भी रहती है। अत: वह स्वभावत: देहातीत है। देह सीमाबद्ध, जरा-मरण नाश युक्त तथा परिच्छिन्न है। इस देह अहंभावना से 'मैं' भी परिच्छिन्न-सा प्रतीत होने लगता है। सत्य तो यह है कि 'अहम्' 'मैं' देह में परिच्छिन्न है ही नहीं। यह परिच्छिन्नता ही दु:ख का कारण है। दु:ख से पृथक् भावना का विस्तार करने से परिच्छिन्नता का विलीनीकरण हो जाता है।

जीव देह नहीं है। यह निर्विवाद सिद्ध हो जाता है। अब यह जिज्ञासा उत्थित होती है कि तब जीव का स्वरूप क्या है? इस सम्बन्ध में प्रत्येक को साधारण परिश्रम से ही ज्ञात हो जाता है कि जीव मात्र आकर्षण तथा विकर्षण क्रिया के द्वारा स्थायित्व, पुष्टि तथा सत्ता की प्राप्ति करता है। यह आकर्षण तथा विकर्षण की क्रिया

स्पन्दनात्मक कही जाती है। प्राथमिक स्तर में यह श्वास का नासिका मार्गगत् आकर्षण-विकर्षण ही है। विकर्षणावस्था में नासिका मार्ग से वायु बर्हिगत होती है। फलतः घात-प्रतिघात नियम से एक सूक्ष्म स्पन्दन क्रमशः विशुद्ध चक्र, अनाहत, मणिपूरादि चक्र से होता हुआ नीचे जाता है। विकर्षण के अनन्तर आकर्षण क्रिया काल में वायु नासारंध्र से अन्दर प्रविष्ट होती है। इससे एक स्पन्दन उर्ध्वमुखी रूप से उदित होकर क्रमशः मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा चक्र से होता-होता मस्तकाभिमुखी होता है। यह गति पुनः विकर्षण मुख में जा पड़ती है। यही श्वास प्रक्रिया है। वस्तुतः इस क्रिया के साथ वायु सम्बन्ध प्रतीत होने का यह कारण है कि सब कुछ चतुर्दिक् वायु से ओत-प्रोत है। वायु इस प्रक्रिया का कारण कदापि नहीं है। इसका कारक है सहस्त्रार। इन्हीं आकर्षण तथा विकर्षणात्मक स्पन्दन को अहम् कहते हैं। जब तक मनुष्य की इस प्रक्रिया को वायु पर आधारित रहने की प्रतीति होती है, तब तक उसे देहात्मबोध से आच्छन्न रहना ही होगा। यह क्रिया अहम् उत्पादक रूप से सुपरिचित है। मनुष्य इस आकर्षण-विकर्षणात्मक क्रिया का उत्पादक नहीं है, प्रत्युत् यह क्रिया ही मनुष्य के अहं बोध का कारण है। यह क्रिया मनुष्य की इच्छा से प्रतिबंधित या संचालित नहीं होती। यह स्वतः ही चलती रहती है। इस क्रिया के स्पन्दनों के मात्रागत तारतम्य के कारण हमारे ज्ञान एवं भावादि परिवर्तित होते रहते हैं। इस क्रिया के स्पन्दनों का विभिन्न मात्रा में विभिन्न चक्रों से संस्पर्श होता है। विज्ञजनों के कथनानुसार मूलाधार चक्र से संस्पर्श का मात्रागत तारतम्य होने पर काम भाव, स्वाधिष्ठान से कामातिरेक, मणिपूर से क्षुधा, अनाहत से दया, विशुद्ध से प्रेम, भ्रूमध्य से ज्ञान का विकास होने लगता है। अर्थात् जिस चक्र पर इसका विशेष मात्रा में संस्पर्श होता है, उस चक्र में तदनुरूप भावस्पन्दन प्रवाहित होने लगते हैं। जीव सामान्यतः इस क्रिया का अतिक्रमण कर सकने में असमर्थ सा रहता है। वह इस क्रिया के कारण कठपुतली के समान संचालित होता रहता है।

क्रिया का नियम यह है कि जहाँ भी क्रिया अवस्थित है, वहाँ तद्नुरूप स्पन्दन भी विद्यमान रहता है। जहाँ निस्पन्दता है, वहाँ क्रिया का भी अभाव जानना चाहिए। अतः जीव का अस्तित्व तथा कर्तृत्व स्पन्दन पर ही आधारित है। स्पन्दन जीवन का लक्षण भी है। इसके क्रमिक परिवर्तन के कारण मनुष्य का ज्ञान भी परिवर्तित होता रहता है। एक जातीय स्पन्दन से अन्य जातीय स्पन्दन का प्रादुर्भाव नहीं हो सकता। स्पन्दन तथा काल (Time) का सम्बन्ध अटूट रहता है। अर्थात् विभिन्न काल में विभिन्न जातीय स्पन्दन कार्यरत रहतें हैं। फलतः मनुष्य में विविध विचारों का तथा कार्य का उदय होता रहता है। यही कारण है कि एक जातीय स्पन्दन की अवस्था में उसे ही अविहित समझने लगता है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि स्पन्दनात्मक क्रिया विषय स्वरूप को अपने अनुरूप ही प्रकाशित करती है। जीव मात्र स्पन्दनात्मक क्रिया से ही चालित होता है। यह क्रिया उसे जैसा चाहती है, वैसा नाच नचाती है। जीव जब तक एक अवस्था में है, तब तक वह केवल मात्र उसी अवस्था के अनुरूप

ही क्रिया कलाप करता अथवा विचार इत्यादि करता है। वह उस अवस्था से अतिरिक्त अन्य अवस्था की अभिज्ञता प्राप्त करने में तब तक असमर्थ रहता है, जब तक वह अवस्था परिवर्तित नहीं हो जाती। यह परिवर्तन भी स्पन्दन के ही अधीन रहता है। स्पन्दनात्मक क्रिया के परिवर्तन से ही अवस्था का परिवर्तन होना सर्वसिद्ध तथ्य है।

क्रिया कहने से किसी अन्य, इतर सत्ता अथवा कार्य का द्योतन नहीं होता। वास्तव में क्रिया एक संचालन रूप स्पन्दन ही है। जीवित पदार्थ अथवा प्राणी का भान उसके स्पन्दन से ही होता है। स्पन्दनहीन प्राणी को मृत कहते हैं। अब प्रश्न उत्थित होता है कि क्या यह संचालन आधार से संयुक्त है? इसका समाधान यह है कि स्पन्दन का संचालन आधार से ही होता है। जैसे वृक्ष के पत्तों का संचालन, पत्तों को आधार बनाकर ही होता है। क्रियारूप स्पन्दन आधार विहीन नहीं हो सकता। इस स्पन्दन का आधार है देहातीत 'अहम्'। इस स्पन्दनात्मक क्रिया का आधार है निष्क्रिय सत्ता! यह निष्क्रिय सत्ता ही यथार्थ 'अहम्' है। यही आत्मा भी है। अत: क्रियामूलक ज्ञान की अवस्था में निष्क्रिय को जान सकना असंभव प्रतीत होता है। क्रियामूलक देह, इन्द्रिय, मन, बुद्धि आदि की सहायता से निष्क्रिय का ज्ञान अथवा अवधारणा नहीं हो सकता। आकर्षण-विकर्षण की जो क्रिया देहमध्य में चलती रहती है, उसी के मूल में अहम् रूपी आत्मा विराजित है।

विषय को और स्पष्ट किया जाता है। जिस क्रिया के मूल में अहम् बोध विद्यमान है उसी क्रिया के साथ मनुष्य की भावना एवं अनुभव का अविच्छेद्य सम्बन्ध भी विद्यमान रहता है। क्रिया के अभाव में भाव भी अभाव रूप हो जाता है। स्पन्दन की क्रिया जिस अवस्था में रहती है, उस समय वैसा ही भाव उन्मिषित होता है। अत: क्रियानुरूप भाव एवं भावानुरूप क्रिया की सत्ता सिद्ध हो जाती है। प्रकृति में सर्वत्र यह स्पन्दनात्मक क्रिया विद्यमान रहती है। जहाँ क्रिया है, वहीं शब्द भी है। दोनों का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। जब क्रिया मृदु होती है, तब शब्द भी मृदु रूप हो जाता है। क्रिया स्पन्दन की तीव्रता के साथ, शब्द में भी तीव्रता का संचरण परिलक्षित होने लगता है। इस प्रकार क्रिया, भाव तथा शब्द का अभेदत्व सिद्ध हो जाता है। क्रिया, भाव तथा शब्द मनुष्य शरीर की सत्ता में ही नहीं, उसके सूक्ष्म शरीर रूपी अस्तित्व में भी जड़ित रहते हैं। गुरु प्रदत्त कौशल का सहाय्य लेकर क्रिया, भाव अथवा शब्द में से किसी एक का परिवर्तन कर देने पर सम्पूर्ण अस्तित्व का ही परिवर्त्तन हो जाता है। इनके परिवर्त्तन के अभाव में मनुष्य का मूलभूत यथार्थ परिवर्त्तन होना सम्भव ही नहीं है। यदि होता भी है, तब वह स्थायी परिवर्त्तन नहीं हो सकता।

इस सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि स्पन्दनात्मक क्रिया का परिवर्त्तन कर सकना अत्यन्त दुष्कर है। हठयोगीगण तीव्र प्रयत्न द्वारा क्रिया का परिवर्त्तन करने में अधिकांशत: सफल हो जाते हैं, परन्तु यह अत्यन्त कष्टसाध्य होने के कारण सार्वजनीन उपाय नहीं हैं। तुलनात्मक रूप से शब्दाश्रय अथवा भावाश्रय द्वारा मनुष्य का पूर्ण परिवर्तन साधित हो सकता है। भाव द्वारा क्रिया का परिवर्तन भक्तियोग द्वारा

किया जा सकता है। ध्वनि द्वारा क्रिया परिवर्तन का मार्ग ही राजयोग एवं मंत्रयोग है। राजयोग शुद्धतः ध्वनियोग नहीं है। उसमें ध्वनियोग के साथ-साथ भावना का भी संस्पर्श रहता है। भावयोग से भी हठात् क्रिया का परिवर्तन साधित नहीं हो सकता। कारण, भाव का उद्रेक मनुष्य की अपनी इच्छा के अधीन नहीं है। भाव का उद्रेक किसी कारण की अपेक्षा रखता है। अतः इन सबमें ध्वनियोग सबसे सरल पथ है, क्योंकि कोई व्यक्ति अपनी इच्छा से किसी ध्वनि का उच्चारण करने में समर्थ है। ध्वनि का उच्चारण करने से ध्वनिगत स्पन्दन उच्चारणकर्त्ता के भाव का तथा भावान्तर्गत क्रिया का परिवर्तन कर देता है। ध्वनि की सहायता से आत्मज्ञान के पथ के समस्त अवरोध दूर हो जाते हैं।

क्रिया एवं ध्वनि में भी पारस्परिक सम्बन्ध विद्यमान रहता है। इस संन्दर्भ में देह की मूलभूत क्रिया (आकर्षण एवं विकर्षणात्मक) का विश्लेषण करना चाहिये। मनुष्य में श्वास क्रिया के मूल में जिस आकर्षण एवं विकर्षण का अस्तित्व है, वह भी ध्वनि के साथ साक्षात् रूप से सम्बन्धित है। इसका अर्थ यह है कि श्वास ग्रहण करते समय, तथा श्वास को बहिर्गत् करते समय, उभय अवस्था में एक ध्वनि विद्यमान रहती है। और भी सूक्ष्मता से विश्लेषण करने पर ज्ञात होगा कि ग्रहणावस्था में एक ध्वनि है, तथा श्वास की निष्क्रमणावस्था में अन्य ध्वनि की सत्ता विद्यमान है। ग्रहणकाल में 'अ' ध्वनि तथा निष्क्रमण काल में 'ह्' ध्वनि का ही अस्तित्व रहता है। यही अ, ह बोधरूपी अनुस्वार से मिलकर अहम् की सृष्टि करता है। अहम् कोई कल्पित शब्द नहीं है। यह यथार्थ एवं मूलभूत ध्वनि का ही प्रत्यक्ष रूप है। अ का ह से तथा ह का अ से अन्योन्याश्रय सम्बन्ध सृष्टिकाल में विद्यमान रहता है। यद्यपि अव्यक्तावस्था के अंतिम क्षण में तथा व्यक्तावस्था के पूर्व क्षण में मात्र अ का ही अस्तित्व रहता है, तथापि सृष्टि काल में अ और ह परस्पर पृथक् हो जाते हैं। इसका कारण यह है कि यदि मात्र आकर्षण का ही अस्तित्व रहता, उस अवस्था में सम्पूर्ण सृष्टि ही अव्यक्त रह जाती। मात्र विकर्षण का अस्तित्व रहने से, विकर्षण की मात्रा इतनी अधिक हो जाती है जिससे अणु तथा परमाणु भी उच्छिन्न हो जाते। यह प्रलयावस्था है। प्रलयावस्था में मात्र विकर्षण रूपी 'ह' का ही अस्तित्व रह जाता है। सृष्टि के सन्तुलन के लिये यहाँ पर दोनों की सत्ता विद्यमान रहती है। अतः स्वरूपावस्था में उन्नीत होने के लिये क्रमशः 'ह' का ह्रास करना होगा। तंत्रशास्त्र में इसी का संकेत हार्धकला रूप से दिया गया है। इसके ह्रास से बहिर्मुखता का भी उसी परिणाम में लोप होता जाता है। सर्वान्त में अक्रियावस्था का सन्धान प्राप्त होता है। यही वास्तविक साधन पथ है। प्रत्येक साधन द्वारा प्रकारान्तर से इस हकार की ही क्रिया का ह्रास किया जाता है। जिस किसी भी साधना द्वारा यह विकर्षणात्मक क्रिया स्तिमित होने लगे, वही प्रकृत साधन पथ है। वही यथार्थ दीक्षा है।

इस क्रिया की मृदुता के साथ-साथ धारणा तथा अव्यक्तीभूत शक्तियों का विकास होने लगता है। धारणा शक्ति का पूर्ण जागरण होने पर अभ्रान्त ज्ञान को धारण

ही नहीं किया जा सकता। विकर्षणावस्था रहित जागरण ही निर्भ्रान्त ज्ञानावस्था है। यह ज्ञानरूप मार्ग सप्तर्षिगण द्वारा उपदिष्ट है। उन्हें विदित था कि 'अहम्' की किसी भी प्रक्रिया में हस्तक्षेप न करने पर भी विकर्षण को अस्त किया जा सकता है। यही प्रक्रिया है ध्वनि प्रक्रिया। यह ध्वनि प्रक्रिया अ तथा ह के अन्तर्गत कही जाती है। 'अ' की अनेक स्थितियाँ है तथापि सर्वाग्र में इसे कण्ठस्थ 'अ' ही जानना चाहिए। 'ह' मूलाधारस्थ है। अत: प्रारम्भ में यह स्पन्दनात्मक क्रिया कण्ठ से मूलाधार पर्यन्त ही अनुभूत होती है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि आकर्षण-विकर्षणात्मक ध्वनि का उच्चारण देह नहीं करता। उदाहरणार्थ मृत शरीर में यह क्रिया परिलक्षित नहीं होती। अत: ध्वनि का कर्त्ता देह नहीं है। उससे मात्र ध्वनि की प्रतिध्वनि अथवा ध्वनि का बहिर्गमन ही होता है। इस सन्दर्भ में यह ज्ञातव्य है कि देहान्तर्गत स्पन्दनात्मिका क्रिया उर्ध्वोत्थित होती है। तदनन्तर उसमें निम्नगामिता की गति भी प्रत्यक्ष की जा सकती है। यह क्रिया कौन करता है? यह क्रिया अव्यक्त संचालक नहीं है। इसका कर्त्ता है 'ईश्वर' जो यंत्री के रूप में अहम् रूपी हृदय मध्य में विराजित है। यही कर्त्ता इस क्रिया से सम्बद्ध रहता है। इसी क्रिया द्वारा हृदयस्थ ईश्वर का अस्तित्व भी प्रमाणित होता है। अथवा यह क्रिया ही शरीर का स्पन्दन रूप अस्तित्व है, जो अपने कर्त्ता से सम्बद्ध है। इस क्रिया में तनिक भी परिवर्तन से देही के भावादि में परिवर्तन हो सकता है। गीतोक्त उक्ति के अनुसार ईश्वर यंत्री के रूप में अवस्थित होकर यथाविधि देह यंत्र तथा देहाभिमानी जीव को संचालित करता रहता है। वह स्पन्दन रूपी क्रिया के द्वारा ही जीव को संचालित करता है। यह स्पन्दन ही सृष्टि की मूल ध्वनि रूप है। सृष्टि के पूर्व क्षण पर्यन्त यह स्पन्दन अन्तर्लीन रहता है और सृष्ट्योन्मुखी होने के अनन्तर जीव जगत् का संचालक रूप हो जाता हैं। इस स्पन्दन क्रिया के माध्यम से ईश्वर तथा जीव का सम्बन्ध योग बना रहता है, किंवा यह ईश्वर तथा जीव के मध्य की रज्जु है। यह स्पन्दन क्रिया ही देहाभिमानी जीवात्मा को वर्तमान रखती है तथा उसमें यथेच्छित परिवर्तन करती रहती है। देहाभिमानी जीवात्मा का इस क्रिया पर कोई भी आधिपत्य नहीं है। यह स्पन्दनात्मिका रज्जु उसे जैसा नाच नचाती है, वह मदारी के बन्दर के समान रज्जु के इशारे पर वैसा ही नाच नाचने लगता है। इतने पर भी वह स्वयं को कर्त्ता मान कर कर्तृत्वाभिमान रूपी बन्धन में आबद्ध हो जाता है। उसे गीता में 'अहंकार विमूढ़' उपाधि प्रदान की गयी है, जो भ्रमवशात् स्वयं को कर्त्ता मान बैठा है। उक्त हैं—

अहंकारविमूढ़ात्मा कर्त्ताऽहंमितिमन्यते

यह अभिज्ञता प्राप्त होने पर कि क्रिया ही सब कुछ का संचालन कर रही है, व्यक्ति में द्रष्टत्व का विकास होने लगता है। तब कर्तृत्वाभिमान रूप बंधन भी उच्छिन्न हो जाता है।

जीव इस क्रिया को अपनी इच्छा से कदापि रोक नहीं सकता। यह क्रिया सुषुप्तावस्था में भी अस्तंगत् नहीं होती। अहर्निश अविराम गति से चलती ही रहती है।

इस अवस्था में जीव का प्रधान कर्तव्य है इस क्रिया के मूलकेन्द्र का, उत्स का अनुसंधान करना। यह स्पन्दनात्मिका क्रिया हमारे देह रूप व्यष्टि देश में चल रही है। इसी प्रकार यह क्रिया समष्टि में भी चलती रहती है। इसी क्रिया द्वारा समष्टि का भी नियमन परमात्मा करते रहते हैं। देहगत् व्यष्टि क्रिया का नियमन तथा संचालन हृदयस्थ ईश्वर करते हैं। समष्टिगत् क्रिया का नियमन एवं संचालन परमात्मा के द्वारा सम्पादित होता है। समष्टि एवं व्यष्टि से अतीतावस्था में भी इस क्रिया का संधान प्राप्त होता है। अर्थात् जहाँ समष्टि एवं व्यष्टिगत भेद का भी अवसान हो चुका है, वहाँ भी यह क्रिया यथावत् स्पन्दित होती रहती है। वहाँ इसके नियामक एवं संचालक हैं भगवान। उर्ध्वस्थ क्रिया अध:स्थ क्रिया की नियामिका होती है। अर्थात् समष्टिगत् तथा व्यष्टिगत अभेद भूमि की क्रिया समष्टि जगत् की क्रिया का नियमन एवं रक्षण करती है। समष्टिगत क्रिया व्यष्टिगत् क्रिया की नियामिका तथा संचालिका है। वही व्यष्टिगत् क्रिया का अनुरक्षण भी करती रहती है। अत: व्यष्टिगत् क्रिया को पूर्णत: आयत्त करने के लिये समष्टिगत् क्रिया का आश्रय लेना ही होगा। इसी प्रकार अभेद भूमि की क्रिया का साक्षात्कार करते ही समष्टिगत क्रिया का समाधान प्राप्त हो जाता है। इसका कारण यह है कि क्रिया का चालक (अथवा ध्वनि का चालक) सर्वदा उच्चभूमि में स्थित रहता है। उच्चभूमि का तात्पर्य है उच्च आयाम। चालक के निम्न आयाम में क्रिया अथवा ध्वनि का स्पन्दन होता है। अत: संचालक अथवा नियामक का संधान अपने से उच्चभूमि पर संचरण करने से ही प्राप्त हो सकेगा।

अब प्रश्न उत्थित होता है कि जीवात्मा जो निम्नभूमि में रहता है। वह उच्चस्थ क्रिया संचालक अथवा नियामक का संधान प्राप्त करने के लिये कैसे अग्रसर हो? इसका समाधान यह है कि ईश्वर तथा जीवात्मा के मध्य का सम्बन्ध क्रिया स्पन्दन रूपी रज्जु से जुड़ा हुआ है। जैसे रज्जु की सहायता से, रज्जु को पकड़ कर पर्वत शिखर पर भी आरोहण किया जा सकता है, उसी प्रकार देहस्थ क्रिया स्पन्दन के सहाय्य से क्रिया के संचालक अथवा नियामक स्थल अर्थात् ईश्वर भूमि पर्यन्त आरोहण किया जा सकता है। अत: स्पन्दन क्रिया का ही लक्ष्य करना चाहिए। स्पन्दन में एक अव्यक्त ध्वनि की विद्यमानता का तथ्य शास्त्र स्वीकार करते हैं। यह ध्वनि कल्पित ध्वनि नहीं है। जैसी क्रिया जब चलती है, तब वैसी ही ध्वनि उत्पन्न होती है। क्रिया की अपेक्षा ध्वनि की सहायता से कर्त्ता का अनुसंधान कर सकना अत्यन्त सुगम है। ध्वनि का आश्रय लेकर उर्ध्वारोहण करना अपेक्षाकृत सहज पथ है। गर्भावस्था में यह ध्वनि शिशु के कण्ठ में विद्यमान रहती है। वह कण्ठ से निम्नगामी नहीं होती। इसी कारण गर्भावस्था में शिशु को जगत् ज्ञान नहीं रहता। जब यह क्रिया शिशु के कण्ठ से अधोगामी होने को उद्यत होती है, उसी क्षण शिशु भूमिष्ट हो जाता है। यदि वह उस क्षण किसी कारण से बहिर्गत न हो सके, तब उसकी गर्भ में ही मृत्यु होना अवश्यम्भावी है। अर्थात् जब वह स्पन्दनात्मिका क्रिया अपने कण्ठगत् प्राथमिक रूप अ से ह रूपी निम्नावस्था की ओर प्रधावित होने लगती है, तब से अहम् बोध का

प्रारम्भ होने लगता है। यह 'अहम्' देहाहंबोध रूप है। जब तक यह अहम् बोध देह में जड़ित रहता है, तब तक देह भी अवस्थान करती है। इस अहम् बोध का विराम होते ही, तत्क्षण मृत्यु हो जाती है। इसी कारण जब तक यह अहमात्मक क्रिया विद्यमान है, तभी तक जीव का अस्तित्व है।

विषय को अन्य प्रकार से परिभाषित किया जाता है। यह कहा जा चुका है कि 'ह' के अभाव में विकर्षण क्रिया पूर्णतः स्तिमित हो जाती है। अहम् में 'ह' मध्य विद्यमान है। यह अ तथा म का योजक है। 'ह' का विलोप ही विकर्षण का विलोप है। अ तथा म, दोनों आकर्षणात्मक हैं। इसी अ तथा म के संयोग से आकर्षणात्मक प्रक्रिया का प्रारम्भ हो जाताहै। यही यथार्थ प्रणव है। प्रणव में विकर्षणात्मक हकार का पूर्ण अभाव रहता है। इसी कारण प्रणव को जागतिक दृष्टिकोणानुसार निष्क्रिय तथा अपरिवर्तनशील कहते हैं। 'ह' के अभाव में क्रिया एवं ध्वनि की अन्तर्लीनता सम्पादित हो जाती है। अब मात्र अ तथा म रूप प्रणव विद्यमान रह जाता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि अ तथा म के दीर्घ उद्घोष के समय दोनों के मध्यस्थ उ कार की भी सत्ता अभिव्यक्त होने लगती है। वास्तव में यह मध्यस्थ उ कार जागतिक भाषा का उ कार न होकर मध्यस्थ शक्ति दशा का बोधक होने के कारण अनुस्वार युक्त हो जाता है। अतः इसका प्रकृत रूप अ तथा म ही है। प्रणव की स्थिति विकर्षणात्मक नहीं है, अतः वहाँ आकर्षण की सत्ता भी नहीं रहती। यह प्रणव ही क्रिया का नियामक अथवा ईश्वर है। इस प्रणव से सर्वप्रथम अत्यन्त मृदुता से 'ह्' का उद्भव होने लगता है। फलतः आकर्षणात्मक 'अ' का भी बहिर्गमन होना अवश्यम्भावी है। क्रमशः बहिर्गमन के कारण 'ह' कार भी बाह्यपूर्णता की ओर क्रमशः अग्रसर होने लगता है। स्थूल देह की उत्पत्ति भी इसकी ही क्रमिक अवस्था से संभव होती है। अ तथा ह के प्राथमिक उन्मेष काल में स्थान चतुष्ट्य के गठन के साथ-साथ इ, ऋ लृ तथा उ का आविर्भाव होता है। स्थान चतुष्ठय है तालु, मूर्धा, दन्त तथा ओष्ठ। यहाँ पर आकर्षणात्मक स्पन्दनों की क्रमिक अवस्था के कारण १४ स्वर वर्ण का आविर्भाव होता है। अ—ह की निम्नगामी गति के कारण जागतिक 'अ' का बहिः प्रकाशन कण्ठदेश से होता है। तदनन्तर इ से युक्त 'ए' की उत्पत्ति होती है। यह उत्पत्ति होती है मूर्धा में। तदनन्तर संकोच विकासात्मक, आकर्षण-विकर्षण क्रिया के घात प्रतिघात से, ए कार के संयोग से ओ एवं औ का बहिःनिष्क्रमण होता है। तालु, कण्ठ तथा ओष्ठ के घात-प्रतिघात से उ का उदय होता है।

अब प्रश्न उत्थित होता है कि व्यंजन वर्ण समूह का गठन कैसे होता है? अ ह क्रिया का प्रारम्भ होने के साथ-साथ देह का गठन सम्पन्न हो जाता है। (यह देह वास्तविक स्थूल देह नहीं है। इसे सृष्टि क्षण की आदि देह समझना चाहिए) तदनन्तर आदि देही अपने पंचेन्द्रिय समूह द्वारा इन्द्रिय ग्राह्य विषयों को समझने की चेष्टा करता है। पाँच इन्द्रियों तथा उनके पाँच विषय (रूप, रस, शब्द, स्पर्श-गंध) अतः ५ × ५ = २५ भेद हो जाते हैं। यह २५ भेद ही क, च, त, ट, प वर्ग के २५ व्यंजनों के

कारण हैं। जब विलोम क्रमानुसार तालु, मूर्धा, ओष्ठ तथा कण्ठ पर्यन्त विक्षेपण होता है, तब य, र, ल, व रूप ४ व्यंजन और प्रकाशित हो जाते हैं। स्थूल देहस्थ प्रत्येक इन्द्रियों द्वारा इन्द्रिय ग्राह्य विषयों को जानने की चेष्टा की जाती है। अतः आत्मा ही पंचधाविभक्त होकर जीव रूप में परिणति प्राप्त करती है। यही स्थिति है। इसे जीव स्थिति कहते हैं। अतः ५ विषयों में (इन्द्रिय ग्राह्य विषयों में) विभक्त आत्मा की स्थिति एक-एक अंश रूप से हो जाती है। इससे प्रणव की ५ आकर्षणात्मक ध्वनियाँ प्रकाशित होती हैं यथा ङ, ञ, ण, न, म ये क्रमशः क वर्ग, च वर्ग, ट वर्ग, त वर्ग, तथा प वर्ग के अन्तिम व्यंजन हैं। इसी प्रकार प्रणव के विकर्षणात्मक प्रभाव से विकर्षण प्रभावयुक्त श, ष, स, विसर्ग तथा अनुस्वार की उत्पत्ति होती है। क, च, त, ट, प वर्ग के २५ व्यंजनों को स्पर्श वर्ण कहा जाता है क्योंकि विषय ज्ञान के लिए शब्द, रूप, रस, गंध की आवश्यकता होती है तथापि सभी इन्द्रिय समूह विषय को तत्तद् स्पर्श द्वारा ही अनुभव करने में समर्थ होते हैं। स्पर्श सर्वव्यापी है, अतएव त्वचा भी शरीर में सर्वत्र विद्यमान है। जीव की समस्त अनुभूतियां स्पर्शात्मक ही हैं। अतएव उक्त २५ वर्ण समूह स्पर्श वर्ण कहे जाते हैं। क तथा ग गति अथवा प्राण की मृदुता का द्योतक है। ख एवं घ गति अथवा प्राण की प्रबलता के सूचक हैं। ङ अनुनासिक है। इसमें स्थिति प्राप्त होती है। इस प्रकार आकर्षणाधिक्य में स्पन्दन अल्प प्राण अथवा अल्प गतियुक्त तथा विकर्षणाधिक्यता में महागति अथवा महाप्राण की अवस्था रहती है।

जब विभक्त आत्मा इन्द्रियग्राह्य वस्तु को ५ बार समझने से परिश्रान्त होकर पुनः स्वरूपावस्था में लौटने को उद्यत होता है तब आकर्षणात्मक प्रक्रिया फिर से आरम्भ होने लगती है। यही है अनुनासिक वर्ग अर्थात् ञ, म, ङ, ण, न। तथापि देहाध्यासवशात् विभक्त आत्मा स्वरूपावस्था में न वापस जाकर विकर्षित हो पुनः देह में लौट आती हैं। यही विकर्षणात्मक स्पन्दन है। अ कार के आकर्षण का विकर्षण है 'श'। 'ण' के आकर्षणोपरान्त जो विकर्षण हुआ, वही है 'स'। 'म' का विकर्षण है अनुस्वार। 'ङ' के आकर्षण के उपरान्त देहाध्यासवशात जो विकर्षण होता है वह है विसर्ग। विसर्ग के काल का विकर्षण अतिप्रबल होता है। अतः वह अकारावस्था से युक्त नहीं होता। इसी कारण इसे विसर्ग (परित्याज्य) कहते हैं। विसर्ग से अधिक प्रबल ध्वनि को मानव देह सहन ही नहीं कर सकती। इसी कारण विसर्ग से परे की ध्वनि का उसे कोई भी अनुभव नहीं है। महाप्रलय काल में विसर्ग की महाक्रीड़ा होती है, जिससे सचराचर अपने वर्तमान स्वरूप को त्यागकर कारण सत्ता में लीन हो जाता है। विसर्ग की क्रीड़ा और भी प्रबलतर होने पर कारण सत्ता का भी अस्तित्व नहीं रह जाता। इस स्थिति में कारण सत्ता का अस्तित्व विगलित होकर महाकारण सत्ता में लीन हो जाता है।

✤

त्रिजन्म तत्त्व

महायोगीगण दीक्षार्थी को दीक्षा देने से पहले उसके प्राक्तन जन्म संस्कार को देखते हैं। अधिकांशतः तीन जन्मों का विचार करना श्रेयस्कर है। साधन संस्कार तथा प्रकृतिगत इष्टभाव के वैशिष्ट्य का निरूपण करने के लिए तीन जन्मों में अर्जित कर्म एवं साधन संस्कारजनित चित्त दशा तथा रुचि के अनुकूल इष्ट का निर्णय किया जाता है और तदनुसार मात्रा में शक्ति संचार रूप दीक्षा दी जाती है। इससे यह ज्ञात हो जाता है कि तीन जन्म के संस्कार का सापेक्षरूप से परिदर्शन करने के अनन्तर भावी साधना की धारा का ज्ञान हो सकता है। जिस पथ के प्रति पूर्वजन्म में साधक की रुचि रही है और उसने परिश्रम किया है, उसी मार्ग का साधन संस्कार साधक में विद्यमान रह जाता है। अतएव वर्तमान में उसी मार्ग के साथ साधक को संयुक्त कर देना चाहिए। इससे अनेक व्यर्थ परिश्रम से त्राण प्राप्त होता है तथा पूर्वकृत् साधन कर्म वर्तमान जन्म की साधना से संयुक्त होकर शीघ्रता से फल प्रदान कर देता है।

वस्तुतः यह एक स्थूल प्रक्रिया है। तीन जन्मों के विचार से क्या ज्ञात होगा? यहाँ तक कि सहस्र जन्मों का विचार कर लेने पर भी प्रकृत पथ का संधान नहीं मिलता। ये तीन जन्म, एक ही जन्म के त्रिविध विलास मात्र ही है। स्थूल जगत् में प्रवेश करने का प्रमाण है स्थूल देह। सर्वप्रथम किसी जीवात्मा ने कब स्थूल शरीर ग्रहण किया था, इसके ऐतिह्य को कौन जान सकता है? कितनी बार जन्म-मृत्यु की क्रीड़ा हो चुकी है, इसका भी सन्धान किसी को नहीं मिलता। अतः यह जानना आवश्यक है कि इस स्थूल देह में जीवात्मा कहाँ से इसके पूर्व आया है। यदि किसी भाग्यशाली को यह सन्धान प्राप्त हो सके, उस अवस्था में वह उस स्थान से और भी उर्ध्व स्थित होकर यह ज्ञात कर सकेगा कि सर्वप्रथम कब शुद्ध चैतन्य पर मूलभूत आवरण आ पड़ा था। उक्त है कि "स्वभाव की धारा त्रिधा सृष्टि करती है"। त्रिविध सृष्टि का तात्पर्य है, आत्मा का तीन जन्म। इस तीन जन्म का वृत्तान्त निपुणतम दृष्टि से देखने के साथ परम स्थान को जाने वाला पथ प्राप्त ही सकता है। यह पथ मायिक जगत् से होता हुआ परम स्थान को गया है। दीक्षा का उद्देश्य है, इस पथ का सन्धान प्राप्त करना। तीन जन्म का अर्थ है त्रिविध स्तर। तीन जन्म विचार का तात्पर्यार्थ है, त्रिविध स्तर का भेदन! त्रिविध स्तर भेदन के द्वारा वह पथ परिलक्षित होने लगता है। अर्थात् किसी साधक के साधन कृत्य तथा रुचि को जानने के लिए उसकी मायिक देह, महामायिक देह तथा चिन्मय देह प्रकृति को जानना ही होगा। ये तीन देह ही तीन जन्म, किंवा तीन स्तर स्वरूप हैं।

वास्तव में विशुद्ध चैतन्य निराकार एवं निर्मल चिद्वस्तु ही हैं। जब विशुद्ध चैतन्य सृष्टि मुख से होते हुए कालराज्य में आता है, तब उसे प्रकृति के विभिन्न स्तरों का भेदन करते हुए कालराज्य में आना पड़ता है। चित्स्वरूप से सर्वाग्र में चित्शक्ति

का संकुचित उन्मेष होता है। इसका वर्णन चिद्णुरूप से होता है। यह संकुचित उन्मेष चिन्मयी शक्ति के अभ्यन्तर में प्रविष्ट होता है, जिससे चिदाकार के साथ एक स्वच्छ आवरण संयुक्त हो जाता है। यही है, चिन्मयी शक्ति कें आवरण से आवृत चिद्णु। इसे पूर्ण अहं का प्रथम प्रतिबिम्ब भी कहते हैं। यहाँ जिस आवरण का उल्लेख किया गया है, वही है आत्मा का प्रथम देह। यह देह कालराज्य में साक्षात् रूप से नहीं आता। यह विशुद्ध अचित् अथवा महामाया राज्य में प्रविष्ट होता है। महामाया इसे अपने उपादान द्वारा आवेष्ठित करती है। इस आवेष्ठन को द्वितीय आवरण कहते हैं। अब चिन्मय आवेष्ठन तथा शुद्ध अचिन्मय आवेष्ठन से युक्त होकर, चिदणु माया गर्भ में प्रवेश करता है। मायागर्भ में मायिक उपादान से तृतीय आवरण का सृजन करता है। इस प्रकार चिदणु तीन आवरणों से आवरित हो जाता है। इसे ही चिदणु की त्रिविध देह कहते हैं। किंवा एक-एक आवरण प्राप्त करने के पश्चात् जीव कालरात्रि राज्य में स्थित होता है। यह स्थूल देह काल की देह है। इसका गुण है परिणामशीलता तथा क्षय। जब तक आरोह क्रमानुसरण द्वारा काल देह से लेकर महामाया देहरूप सभी आवरणों का अपसारण नहीं होता, तब तक स्वरूप प्राप्ति की आशा करना व्यर्थ है।

इस कालजनित देहावस्थान काल में जब तक दीक्षा के अनुरूप संस्कार का उदय नहीं हो जाता, तब तक असंख्य बार काल के आवर्तन में पुनः-पुनः जन्म लेना पड़ेगा। अतः आवर्त से त्राण प्राप्त करने के लिए पथ की प्राप्ति आवश्यक है। इसी प्रसंग में तीन पूर्व जन्मों के विचार की परम्परा नियत की गयी है। सर्वाग्र में मायिक देह भेद करना चाहिए। वापस लौटने के लिए कालराज्य में मायागर्भ में प्रवेश किया जाता है। इसे विपरीत गति कहते हैं। जिस प्रकार से मायिक उपादानों से साधक की निजदेह गठित हुई है, तदनुरूप पथ का अवलम्बन लेकर वह माया से छुटकारा प्राप्त करता है। माया से निर्गत होकर मायातीतावस्था में स्थिति प्राप्त हो जाने पर भी परम स्थान प्राप्त कर सकना संभव नहीं है। अतएव माया से उत्तीर्ण हो जाने पर महामायागर्भ में प्रवेश करना होगा। तदनन्तर महामाया से उत्तीर्ण होकर चित्शक्ति में प्रवेश करना चाहिए। चित्शक्ति से चिन्मय आवरण की विमुक्ति होती है। अब विशुद्ध चित् स्वरूप प्राप्त हो जाता है।

आवरणों की संख्या के अनुरूप, उतनी ही कर्मभूमि की रचना होती है। अनावृत्त चित् स्वरूप में कर्म का अस्तित्व ही नहीं है। अवतरण काल में एक-एक आवरण को ग्रहण करना ही होगा। पुनः आरोहण करते समय इस आवरण को कर्म द्वारा नष्ट करके चैतन्य के साथ अभेदत्व की प्राप्ति हो जाती है। आरोह क्रम में सर्वाग्र में मायिक देह का कर्म करना होगा। शरीर कर्म के लिए रचित होता है। शरीरोपयोगी कर्म सम्पन्न करने पर ही उस शरीर को धारण करने की सार्थकता है। मायिक शरीर का कर्म पूर्ण हो जाने पर, जीव मायातीत हो जाता है। उसकी आत्मसत्ता जाग्रद् भाव से माया को अधिष्ठान बना देती है। इसका प्रथम अंग है, ऐश्वर्य। इसी प्रकार महामाया देह में तद्नुरूप कर्म की सत्ता रहती है। जब तक वह कर्म पूर्ण नहीं होगा,

तब तक महामाया देह की सत्ता का स्थायी रहना सुनिश्चित है। यहाँ का कर्म पूर्ण हो जाने पर महामाया स्तर भेदित हो जाता है। अब योगी महामाया से निर्मुक्त होकर महामाया का अधिष्ठाता बन जाता है। इसी प्रकार चिन्मय शरीर का कर्म पूर्ण होने पर साधक चिन्मयी शक्ति को भी अपने अधीन कर लेने में समर्थ हो जाता है। अब माया, महामाया तथा चिन्मयी रूपी त्रिविध शक्तियाँ योगी के अधीन हो जाती हैं। इस शक्ति त्रय रूपी त्रिकोण के मध्य योगी आसीन हो जाता है।

जन्म त्रय के बिचार का अर्थ है उक्त अवस्था त्रय का विचार। चिन्मय अखण्ड सत्ता पर्यन्त का पथ निर्देश गुरु ही कराते हैं। कालराज्यान्तर्गत भासित होने वाले तीन जन्मों के विचार से अखण्ड चैतन्य पर्यन्त की धारा का निरूपण नहीं किया जा सकता। दीक्षा काल में दीक्षार्थी को गुरुदत्त शरीर की प्राप्ति होती है। इस काया में (गुरुदत्त काया में) दीक्षार्थी की मायिक, महामायिक तथा चिन्मयी काया निहित रहती है।

✤

महाविज्ञान

सत् पुरुष की वाणी सार्वभौम वाणी होती है। उनका आदर्श ही यथार्थ आदर्श है। सत् पुरुषों की वाणी में साधनागत तथा भावगत भेद परिलक्षित होने पर भी उसमें प्रच्छन्न रूप से एक ही महान् आदर्श की सत्ता विद्यमान रहती है। जगत के अनन्त वैचित्र्य के मध्य जो 'एक' अभिन्न रूप से विद्यमान है, उस 'एक' का सन्धान प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। इसी से इस वैचित्र्य की सार्थकता सिद्ध हो जाती है। कर्म सत्य है। ज्ञान सत्य है। साकार तथा निराकार भी सर्वकाल में सत्य है, तथापि परम सत्य वह है, जहाँ कर्म-ज्ञान, सक्रिय-अक्रिय, साकार-निराकार, एक ही अखण्ड स्वरूप में प्रकाशित होते हैं। इन सबका प्रकाशन पृष्ठभूमि अथवा संसृष्ट रूप से न होकर अभिन्नरूपेण होता है।

विज्ञान की दृष्टि समन्वयी दृष्टि है। रहस्य भेद इसी दृष्टि द्वारा संभव हो सकता है। कर्म के दृष्टिकोणानुसार जगत् सत्य है, भेद सत्य है, प्रत्येक व्यक्ति की महिमा सत्य है। ज्ञान की दृष्टि से जगत् मिथ्या है, भेद मिथ्या है, व्यक्तित्व मिथ्या है। विज्ञान की दृष्टि से एक सत्य ही महासत्य है। ज्ञान दृष्टि में जो मिथ्या प्रतीत हो रहा है, तत्तद् दृष्टि से वह सब मिथ्या होने पर भी वह सब 'एक' का स्वातंत्र्य कल्पित लीलामय आत्मप्रकाश होने के कारण परमसत्य रूप है। वास्तव में एक के अतिरिक्त कुछ है ही नहीं। जो लीलातीतावस्था में स्थिर, चिरशान्त है, वही लीलामयता के कारण अनन्त प्रकार के, अनन्त वेश बनाकर चिरकल्लोलमयता के कारण अनन्त प्रकार के, अनन्त वेश बनाकर चिरकल्लोलमय है। वहाँ शान्त-अशान्त रूप भेद की सत्ता ही नहीं रहती। केवलमात्र ग्रंथिमुक्त हृदय में ही इस महास्थिति की प्रतिष्ठा होती है।

इष्ट, गुरु तथा आत्मा के भेद का विनाश होने पर ही क्लान्तिमय यात्रा का अवसान होता है। चैतन्यमय गुरु की कृपा से इष्ट की प्राप्ति होती है। आनन्दरूपा शक्ति का सन्धान प्राप्त होता है। गुरु कृपा सहकृत् निज कर्म बल से यह प्राप्ति घटित होती है। अब अनिष्ट समूह विनिवृत्त हो जाते हैं। स्वात्म दुर्बलता का विनाश हो जाता है। मातृस्तन्य नि:सृत अमृतधारा से अभिषिक्त होकर शक्ति सम्पदा तथा ऐश्वर्य गौरवपूर्ण आनन्दमय सिंहासन पर स्थिति प्राप्त होती है। तदनन्तर एक ऐसी भी अवस्था प्राप्त होती है, जिसमें इस आनन्दमय सिंहासनासीन स्थिति से भी वितृष्णा होने लगती है। इस स्थिति में वह इसका भी त्याग करके अकिंचन के समान पथ पर चल पड़ता है। जो पथिक पूर्वावस्था में गुरुकृपा तथा गुरु निर्दिष्ट पथ का अवलम्बन लेकर माँ को खोजने निकला था अब वही पथिक माँ के साथ मिलित रूप से गुरु को खोजने निकल पड़ा। पूर्व में जो गुरु प्राप्ति हुई थी, वह वास्तविक गुरु प्राप्ति नहीं थी। कारण, तब वह गुरु को न चाह कर माँ को प्राप्त करना चाहता था। चाह न होने से प्राप्ति भी नहीं होती। उस समय गुरु कृपापरवश

होकर छद्म वेश में उपस्थित हुए थे। वे स्व-स्वरूप में नहीं आये थे। वे शिष्य को व्यथित देख कर उसका दु:ख दूर करने के लिये आये थे। उन्होंने आनन्दमय बीज कण देकर, शिष्य को आनन्दभूमि का पथ, माँ की प्राप्ति का पथ दिखलाया था। आज वह शिष्य आनन्दमयी माँ की प्राप्ति कर चुका है।

माँ ही पूर्ण का साकार स्वरूप हैं। जगत के समग्र आकार इन्हीं के अंश हैं, इन्हीं की कला तथा रश्मिरूप हैं। समस्त रूप समूह इस परमरूप माँ की एक-एक छटा मात्र हैं। समस्त रस समूह, उन्हीं परम रसमयी का आभास मात्र है। गन्ध, स्पर्श, शब्द आदि, सब कुछ उनकी ही विभूति मात्र है। वास्तव में हमने रूपेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय आदि इन्द्रियों की प्राप्ति माँ के रूप, रसादि को धारण करने के लिए ही की है। इनका प्रयोजन विषय के लिए कदापि नहीं है। वास्तव में माँ सर्वेन्द्रिय वेद्य हैं। उनका साक्षात्कार ही महासाकार विग्रह का साक्षात्कार है। सौन्दर्य, ऐश्वर्य, लावण्य, यौवन, करुणा, वात्सल्य, स्नेह, प्रेम, क्षमा प्रकृति की अनन्त गुण राशियाँ वहाँ हिल्लोलित होती रहती है। दीर्घ संसाररूपी मरु काण्डार भ्रमण से क्लिन्न होने पर प्राणमयी-प्रेममयी जगज्जजनी के सुशीतल क्रोड़ में तृप्ति लाभ होता है, किन्तु पूर्ण के यात्रियों के लिए यह विश्राम भी सामयिक विश्राम ही है। अत: इसका भी त्याग करना पड़ता है। इसे 'त्याग' की संज्ञा प्रदान करना समीचीन प्रतीत नहीं होता, क्योंकि योगी कुछ भी त्याग नहीं करता। अत: यह कहना उचित है कि योगी इसे अनदेखा कर अग्रसर हो जाता है।

अब माँ अदृश्य हो जाती है। वे योगी के साथ अभिन्नतया मिलित हो जाती हैं। अब उन्हें पृथक् रूप से देख सकना संभव नहीं है। इसका कारण यह है कि चैतन्यमय गुरु निराकार-निर्गुण तथा निष्कल है। माँ को कर्मपथ से पाया जाता है। तदनन्तर ज्ञानालोक में गुरु को खोजना पड़ता है। यह आनन्दातीत सत्ता है। चैतन्यमय जाग्रत सत्ता में निरानन्द तो है ही नहीं, वहाँ आनन्द की लहरें भी नहीं उठतीं। आनन्द भी एक मोह हैं। इसे तृप्ति मोह कहते हैं। शान्त चैतन्यमय महासत्ता ही गुरुसत्ता है। यहाँ कृपा का वारिवर्षण नहीं होता। यह कृपा शून्य पथ है। यहाँ असहाय-नि:सम्बल यात्री एकमात्र अपनी अन्त: सम्पदा पर निर्भर करता हुआ अत्यन्त कष्ट से पथातिक्रमण करता है। जो एक समय महामाया से अधिष्ठित होकर परम ऐश्वर्यमय आसन पर आसीन था, आज वही राजपुत्र पथ का भिखारी हो रहा है। कुबेर जिनके कोषाध्यक्ष हैं, अन्नपूर्णा जिनकी गृह लक्ष्मी है, वही शिव आज पथ का भिखारी है। निराकार की धारणा अत्यन्त कठिन कही गयी है। साकार में भी निराकार है। साकार राज्य का अतिक्रमण करने के पश्चात् भी निराकार विराजित रहता है। स्वयं निराकार होने पर ही निराकार का साक्षात्कार प्राप्त होता है। इस निराकार महासत्ता में सन्तान भी निराकार है, माँ भी निराकार हैं। यही गुरु प्राप्ति का प्रधान आयाम है। एकमात्र गुरु अपने महाप्राकश में अखण्ड रूप से विराजित रहते हैं। वे हैं अनन्त, अपरिच्छिन्न, महाव्योमाकार, निष्कल, नि:स्पन्द महासत्ता। गुरु प्राप्ति का पथ अत्यन्त भयावह है। यह आधिदैविक मानस सरोवर से लेकर मनोहर तीर्थ पर्यन्त विस्तृत है। इसे उर्ध्वमार्ग कहते हैं।

इसके पश्चात् उर्ध्वगति के फल से एक महाक्षण में यह कृपा शून्यावस्था भी उच्छिन्न हो जाती है। गुरु की महाकृपा का वर्षण होता है और शिष्य स्वयं को जान लेता है कि जो सबका 'स्व' है, माँ का 'स्व' है, गुरु का 'स्व' है, वही यात्री शिष्य का भी स्व है। वही एक आत्मा सबकी आत्मा है। यह है विज्ञान का चरम-परम रहस्य! इसे प्रकृत आत्म प्राप्ति कहते हैं। यही 'स्व' भाव है। कर्म में माँ, ज्ञान में गुरु तथा विज्ञान में स्वयं। कर्म साकार है। ज्ञान निराकार है। विज्ञान है साकार-निराकार से अतीत, अथवा उभयात्मक। माँ साकार है। गुरु निराकार है। माँ जब गुरु से अभिन्न है, तब माँ भी निराकार सत्ता है। जब गुरु माँ के साथ अभिन्न है तब गुरु भी साकार है। विज्ञान सूर्य का उदय होने पर, आत्म साक्षात्कार के क्षण में लक्षित होता है कि आत्मा स्वयं निराकार तथा साकार, उभय से अतीत होने पर भी, युगपत् रूप से साकार, तथा निराकार, दोनों रूप में प्रकाशमान है। आत्मा ही गुरु है, आत्मा ही माँ है। अब आत्मा और नैरात्म्य का द्वन्द्व सर्वदा के लिये समाप्त हो जाता है। इस स्थिति में माँ, गुरु तथा स्वयं, तीनों एक हैं। अथच एक ही तीन रूप में प्रकाशित हो रहा है। उस स्थिति में कर्म, ज्ञान तथा विज्ञान अद्वय है। माँ, गुरु तथा आत्मा अद्वय रूप है। उपाय तथा उपेय अभिन्न है?

इससे भी अतीत अवस्था का उल्लेख प्राप्त होता है। पूर्वोक्त स्थिति नित्य वर्तमान रूप तथा देश-कालातीत है। इसे अतीत कहना उचित नहीं है, तथापि शब्द न होने के कारण कहने को बाध्य होना पड़ता है। अतीत है, भविष्यत् रूप अनागत भी है—सभी नित्य वर्तमान में भासित हो रहे हैं। इसे अव्यक्त स्थिति कहते हैं। यहाँ वाणी की सत्ता नहीं है। विशुद्ध वाणी भी इसका वर्णन नहीं कर सकती। स्वमति के अनुसार इस स्थिति का यहाँ संकेत दिया गया है। इस सबके मूल में वह सत्ता विद्यमान है जो अंधे को चक्षु प्रदान करती है, मूक को वाचाल बनाती है और जिसकी कृपा से पंगु भी गिरि लंघन जैसा दुष्कर कार्य कर लेता है।

✤

तांत्रिक दृष्टि

किसी साधना के सम्बन्ध में अभिज्ञता प्राप्त करने से पूर्व उसकी आनुषंगिक दृष्टि के साथ परिचय प्राप्त करना आवश्यक है। दृष्टि से ही लक्ष्य का ज्ञान प्राप्त होता है। लक्ष्य के अभाव में साधना की प्रचेष्ठा उन्मत्त प्रलाप ही है। कारण यह है कि लक्ष्य की प्राप्ति के साधन को जानकर उसका अनुशीलन भी करना चाहिये। इसी कारण तांत्रिक दृष्टिकोण का परिज्ञान आवश्यक प्रतीत होता है। दृष्टि पूर्ण तथा अपूर्ण रूप से दो प्रकार की होती है। अपूर्ण दृष्टि द्वारा जिसे लक्ष्य माना गया है, पूर्ण दृष्टि से देखने पर वह साध्य नहीं है, वह प्रकृत लक्ष्य का एक अंश मात्र ही है। इतने पर भी उभय दृष्टिकोणों की सार्थकता को स्वीकार करना ही होगा। सर्वान्त में अपूर्ण दृष्टिकोण का पर्यवसान पूर्ण दृष्टि में हो जाता है।

जैसे बौद्धगण बुद्ध, धर्म तथा संघरूप त्रिरत्न को मान्यता प्रदान करते हैं, उसी प्रकार भेद वादी तांत्रिक शिव, शक्ति तथा विन्दु को त्रिरत्न रूप से स्वीकार करते। कामिक, रौरव, स्वायम्भुव, मृगेन्द्र आदि आगमों में तथा अघोर शिव, सद्योजात, रामकण्ठ, नारायणकंठ आदि आचार्यों की कृतियों में इसका विशेष वर्णन प्राप्त होता है। इसके मूल में भेद दृष्टि ही कार्यकारित रहती है। अभेद वादी आगम तथा आचार्यगण के ग्रंथों में न्यूनाधिक रूप से अन्य विवरण मिलता है। इसका मूल कारण है दृष्टि भेद। शाक्तगण प्रधानत: अद्वैतवादी होते हैं। शैव सम्प्रदाय में द्वैत और अद्वैत रूपी द्विविध दृष्टियाँ हैं। कहा जाता है कि शिव के ईशानादि पंच मुख से ही समस्त मूल तंत्र आविर्भूत हुए हैं। भेद प्रधान शिव तंत्र १० हैं। इसी प्रकार १८ भेदाभेद शिवतंत्र की स्थिति प्राप्त होती है। शिव ज्ञान तथा रुद्र ज्ञान भी उर्ध्वस्त्रोतांतर्गत ही हैं। अभेद ज्ञान या भैरवागम शिव के दक्षिण मुख अथवा योगिनी वक्त्र से अभिव्यक्त होता है। यह शिवशक्ति संयोगरूप तथा अद्वयस्वभाव विशिष्ट है।

शिव, शक्ति तथा विन्दु ही समस्त तत्वों के अधिष्ठाता तथा उपादानरूपेण प्रकाशमान हैं। शुद्धतत्वमय कार्यात्मक शुद्धजगत् का उपादान विन्दु है। शुद्ध जगत कर्त्ता शिव है तथा करण को शक्ति कहा जाता है। अशुद्धतत्वमय जगत में भी परम्परा से शिव और शक्ति ही कर्त्ता का करण रूप हैं तथा निवृत्ति आदि कलाओं के द्वारा विन्दु ही आधार है। विन्दु का अपर नाम है महामाया। शब्द ब्रह्म, कुण्डलिनी, विद्या शक्ति, अनाहत तथा व्योम द्वारा शुद्ध जगत की उत्पत्ति होती है। भोगार्थी साधक भौतिक दीक्षा के प्रभाव से इस आनन्दमय राज्य में प्रवेशाधिकार प्राप्त करता है। जो महामाया राज्य की इच्छा नहीं करते, तथा भोगार्थी भी नहीं हैं, वे नैष्टिक दीक्षा प्राप्त करके शक्तियुक्त शिवस्वरूप परमेश्वर का साक्षात्कार करते हैं।

विन्दु ही क्षुब्ध होकर शुद्ध देह, इन्द्रिय, भोग और भुवन के रूप में, अर्थात् शुद्ध अध्वा रूप में गठित होता है और विन्दु से ही शब्दोत्पत्ति भी होती है। सूक्ष्मनाद,

अक्षर विन्दु तथा वर्षभेद से शब्द तीन प्रकार का होता है। सूक्ष्म नाद ही अभिधेय बुद्धि का कारण तथा विन्दु का प्रथम प्रसार है। यह चिन्तन शून्य होता है। अक्षर बिन्दु को सूक्ष्म नाद का कार्य तथा परामर्श ज्ञानस्वरूप कहते हैं। यह मयूराण्डरस न्याय अनिवर्चनीय है। आकाश और वायु से श्रोत्रग्राह्य वर्णात्मक स्थूल शब्द की उत्पत्ति होती है। कालोत्तर तंत्र में उक्त हैं—

स्थूलं शब्द इति प्रोक्तं, सूक्ष्मं चिन्तामयं भवेत् ।
चिन्तया रहितं यत्तु, तत्परं परिकीर्तितम् ॥

विन्दु जड़भावापन्न होने पर भी शुद्ध है। पांचरात्र अथवा भागवत् सम्प्रदायान्तर्गत वैष्णवागम में विशुद्ध तत्व से जो कुछ भी भाषित होता है, वही विन्दु है। परमेश्वर के साथ विन्दु अथवा महामाया के सम्बन्ध में दो मत प्रचलित हैं—

प्रथम मत के अनुसार शिव की समवायिनी शक्ति चिद्रूपा, अपरिणामिनी, निर्विकारा तथा स्वाभाविकी है। यही शक्ति तत्त्व है। यह सदा से शिव समवेत रहती है। शिव-शक्ति का पारस्परिक तादात्म्य सम्बन्ध रहता है। परिग्रह शक्ति को अचेतन तथा परिणामशीला कहते हैं। इसी के नामान्तर विन्दु के शुद्ध तथा अशुद्ध, दो रूप हैं। शुद्ध रूप ही विन्दु अथवा महामाया है। अशुद्ध रूप का नाम है माया। दोनों को नित्य माना जाता है। अशुद्धाध्वा का उपादान है माया तथा शुद्धाध्वा के उपादान को महामाया कहते हैं। सांख्योक्त तत्व तथा कलादि कंचुक को अशुद्धाध्वा के ही अन्तर्गत जानना चाहिए। यह सब माया का ही कार्य है। पुरुष तथा आत्मा नित्य है तथापि उसमें भी पुंस्त्व नामक आवरण कार्यकारी रहता है। माया से उर्ध्वस्थ तत्त्व शुद्ध अध्वा में परिगणित होते हैं।

द्वितीय मत के अनुसार एकमात्र विन्दु ही शुद्ध तथा अशुद्धाध्वा का उपादान रूप है। इस मत के अनुसार माया की स्थिति नित्य नहीं है, तथापि वह कार्यरूपा हो जाती है। महामाया (विन्दु) की तीन अवस्थायें कही जाती हैं—परा, सूक्ष्मा तथा स्थूल। परा अवस्था का नामान्तर है महामाया, परामाया, कुण्डलिनी आदि। यही परम कारण तथा नित्य है। सूक्ष्म तथा स्थूल अवस्थायें कार्यरूप हैं, अतः अनित्य है। जब महामाया विक्षुब्ध होती है तब उससे शुद्ध धाम, तदन्तर्गत मंत्रों, विद्येश्वरों के शरीर की रचना होती है। अर्थात् शुद्ध लोकों के संस्थान तथा देहादि साक्षात् महामाया के ही कार्य हैं। ये शुद्ध, मायातीत तथा उज्जवल हैं। महामाया की अन्य दशा का नाम है माया। कलादि तत्व समूह का अभिव्यक्त रूप ही माया है। कलादि के सम्बन्ध के कारण द्रष्टारूप आत्मा ही भोक्ता बन जाता है। माया से तत्त्व एवं भुवनात्मक कलादि तथा प्रकृति आदि साक्षात् रूप से अथवा पारम्परिक रूपेण उत्पन्न होते रहते हैं। समस्त अशुद्धाध्वा का कारण है माया। महामाया की स्थूल या तृतीय अवस्था का नाम है प्रकृति। इसे त्रिगुणमयी कहते हैं। प्रकृति ही भोक्ता पुरुष के लिये बुद्धि आदि भोगसाधन की और समस्त भोग्य विषय की रचना करती है। कलादि के सम्बन्ध से पुरुष भोक्ता बन जाता है। अतः पुरुष के भोग्यसाधनार्थ महामाया ने प्रकृति रूप स्थूल अवस्था को अंगीकार किया है।

विन्दु शिव में समवेत नहीं है। यह है प्रचलित मत। विन्दु परिणामी होने के कारण—जड़ है। अतः चिदात्मक परमेश्वर के साथ इसका समवाय सम्बन्ध नहीं है। शिव के साथ विन्दु का समवाय सम्बन्ध स्वीकार करने पर शिव के अचेतनत्व का प्रसंग अनिवार्य हो जाता है। श्री कण्ठाचार्य कहते हैं—

स हि तादात्म्यसम्बन्धो, जड़ेन जड़िमावहः ।
शिवस्यानुपमाखण्डचिद्घनैकस्वरूपिणः ॥

तांत्रिक भेदवादीगण में कोई-कोई विन्दु समवायवाद के पोषक थे। इनके मत से समवायिनी शक्ति दो प्रकार की परिलक्षित होती है। प्रथम है, दृक्शक्ति किंवा ज्ञानशक्ति। अन्य है, क्रियाशक्ति अथवा कुण्डलिनी शक्ति। क्रियाशक्ति का ही अपर नाम है विन्दु। माया इससे सर्वथा भिन्न है। माया शिव में समवेत नहीं होती। अपने में समवेत ज्ञानशक्ति के द्वारा परमेश्वर का जगद्विषयक ज्ञान होता है और क्रियाशक्ति के द्वारा उनकी जगत् रचना होती है। क्रियाशक्ति के अभाव में वस्तु निर्माण नहीं हो सकता। ज्ञान तथा क्रिया परमेश्वर में अविनाभूत रूपेण प्रतिष्ठित हैं। परमेश्वर की क्रिया तथा उनका ज्ञान उनसे सम्बद्ध रहता है। विन्दु के क्षोभ से शुद्ध जगत् का उदय होता है। माया का क्षोभ होने से अशुद्ध जगत् का आविर्भाव होता है। जब समवेत शक्ति परमेश्वर का स्पर्श करती है, तब क्षोभोत्पत्ति होती है। विन्दु के क्षोभ से वैषम्य होने लगता है। साक्षात् पारमेश्वरी शक्ति ही शुद्ध जगत् की उत्पत्ति करती है। माया का क्षोभ परमेश्वर की शक्ति द्वारा नहीं होता।

तंत्रमतानुसार सृष्टि, स्थिति, संहार, निग्रह तथा अनुग्ररूप पंचकृत्य का कर्त्ता एकमात्र परमेश्वर ही है। ब्रह्मादि तो परिकर मात्र हैं। इन कृत्यों के लिए शुद्धाध्वा प्रयोजनीय है। अतः विन्दु का क्षुब्ध होना आवश्यक है। परमेश्वर तथा उनकी शक्ति सदा ही एक एवं अद्वितीय है तथापि उपाधि भेद जनित आरोपित भेद भी उसमें विद्यमान रहता है। जब उसकी शक्ति अव्यक्त रहती है, उस समय वह शक्ति निष्क्रिय शुद्ध तथा संविदरूपा होती है। तब विन्दु भी स्थिर तथा अक्षुब्ध ही रहता है। शक्ति की सक्रियावस्था के अभाव में विन्दु में क्षोभ नहीं हो सकता। परविन्दु स्वरूपाधिष्ठाता (परमेश्वर) की यही लयावस्था है। प्रचलित मतानुसार शक्ति एक ही है, अतएव उसमें ज्ञान तथा क्रियारूप भेद नहीं रहता। यद्यपि सामान्य दृष्टिकोण से भेद प्रतीत होता है, तथापि वह भेद औपाधिक भेद मात्र है। इसी कारण ज्ञान भी क्रिया रूप कहा गया है। अतः क्रिया शब्द का उच्चारण करने से प्रायः शक्ति समस्त व्यापार समूह को समाप्त करके स्वरूप में स्थित होती है, तब शिव को शक्तिमान कहते हैं। उस समय क्रियारूपी शक्ति शिवान्तर्गत मुकुलित-सी पड़ी रहती है। यह है शिव की लयावस्था। जब उन्मिषित शक्ति विन्दु को कार्य एवं उत्पादन के लिए प्रस्तुत करती है तथा कार्योत्पादन के द्वारा शिव के ज्ञान तथा शिव की क्रिया को समृद्ध करती है, तब शिव की भोगावस्था सम्पन्न हो जाती है। परमेश्वर का भोग अथवा परमानन्द सुख संवेदन स्वरूप कदापि नहीं है। मलहीन चित् सत्ता में उपाधिभूत आनन्द तथा भोग की

संभावना नहीं रहती। अब शक्ति ही सक्रिय हो जाती है। अतएव सक्रिय शक्ति से युक्त शिव भी सक्रिय हो जाता है। उक्त है—

स तया रमये नित्यं समुद्युक्तः सदाशिवः ।
पञ्चमंत्रतनुः श्रीमान् देव सकलनिष्कलः ॥

लयावस्था में शिव निष्कल है, भोगावस्था में वह सकल निष्कल रूप है। वे अधिकारावस्था में सकल रहते हैं, तथापि यह अवस्थात्रय भेद वास्तविक है ही नहीं, औपचारिक ही है। शक्ति अथवा कला की अविकसित दशा, विकासोन्मुख दशा तथा पूर्ण विकास दशा के अनुसार ही शिव के इस अवस्था भेद की परिकल्पना की जाती है।

शिव-शक्ति के अवस्था भेद में विन्दु का अवस्था भेद विद्यमान रहता है। निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या, शान्ति तथा शान्त्यतीत कलायें विन्दु के समान पृथक्-पृथक् अवस्था समूह है। शान्त्यतीत कला को विन्दु का स्वरूप माना जाता है। यह अक्षुब्ध विन्दु अथवा लयावस्था है। शुद्ध एवं अशुद्ध अधिष्ठान (भोगाधिष्ठान) शान्त्यादि चार कलाओं के ही परिणाम हैं। भोगाधिष्ठान का अर्थ है शान्ति आदि कलाओं के भुवन समूह। परविन्दु समस्त कलाओं का कारण तथा लयस्थान है। अतएव शान्त्यतीत भुवन सम्यक् रीति से भोगस्थान नहीं है, तब भी सृष्टि के प्रारम्भ में उत्पन्न होने के कारण कतिपय ऋषियों ने इन्हें भोगस्थान माना है। यह भोग की बीजावस्था है। कलात्मिका शक्ति ही शिव के देहरूप में अध्यस्त होती है, अतः लयावस्था में विन्दुजनित विक्षोभ के अभाव में कला का उद्भव ही नहीं होता। अतएव निष्कल शिव को अशरीर कहते हैं। भोगावस्था में शिव सकल-निष्कल रहते हैं—तब उनका देह पंचमन्त्रात्म हो जाता है। तंत्रमतानुसार शक्ति ही मंत्र है। अतएव शिव पंचशक्तिमय है। समस्त भावों के मनन तथा सम्पूर्ण संसार के त्राण के कारण मनन त्राणरूपिणी शक्ति ही मंत्र है। उक्त है—

मननात्सर्वभावनां, त्राणात्संसारसागरात् ।
मन्त्ररूपा हि तच्छक्तिर्मननत्राणरूपिणी ॥

मंत्रात्मिका शक्ति मूल में एक है, तथापि उपाधि के कारण उसमें नानात्व का समारोपण होता है। अधिष्ठान के कारण एक शक्ति ही पंचरूपा प्रतीत होती है। तदनुसार विन्दु भुवन की या शान्त्यतीत कला भुवन की अधिष्ठात्री शक्ति को ईशानमंत्र तथा शान्ति आदि चतुर्भुवनों की अधिष्ठात्री शक्तियों को क्रमशः तत्पुरुष, सद्योजात, वामदेव तथा अघोर मंत्र कहा जाता है। ये समस्त भुवन भोग स्थान ही हैं। ईशानादि पंचमन्त्रात्मिका शक्ति देह का कार्य करती है। इस कारण यह शिवतनु भी है।

वास्तव में यह पारमार्थिक देह नहीं है। यह पन्चमूर्ति परमेश्वर के पन्चकृत्यों में उपयोगी है। विन्दु की समस्त कलायें कारणावस्था में लीन रहने पर (परविन्दु स्थिति में) विभागरहित होती है। इनकी अधिष्ठात्री शक्ति शिव की परामूर्ति कही जाती है। यह लयावस्था का वर्णन है। जब शिव अशरीरी हैं, तब वह इसी वर्णन के अन्तर्गत लयावस्था में हैं। इस अवस्था में शक्ति अन्तर्लीन रहती है। विन्दु अक्षुब्ध तथा

असत्कल्प रह जाता है। उस समय एकमात्र शिव अपनी महिमा में विराजित रहते हैं। जब विन्दु की कलायें कार्यावस्था में रहती हैं, उस समय उनकी अधिष्ठात्री शक्ति को शिव की अपरामूर्ति कहा जाता है। भोगस्थान रूप कला तथा भुवनों में निवृत्ति भुवन सर्वातिनिम्न कोटि है। इसके अधोवर्ती भुवन को सदाशिव भुवन कहते हैं। इसकी अधिष्ठात्री देवी को शिव की अपरामूर्ति अथवा सदाशिवतनु कहा गया है। 'सदाशिवतनु' औपचारिक नाममात्र है। सदाशिव भुवन के अधिष्ठानवशात् इसका उद्भव हुआ है। दीक्षादि के द्वारा जो-जो जीव तत्तद् भुवन में जाते हैं, उनका भेद सत्य है, किन्तु शिव तथा शक्ति का भेद कार्य भेद के कारण औपाधिक है। "अधिकारी स भोगी च लयी स्यादुपंचारतः।" अर्थात् शिव की शक्ति से शोभित महामाया जो-जो कार्य उत्पन्न करती है, उससे उसके अधिष्ठाता शिव और शक्ति में कार्यभेद और स्थानभेद के कारण उपचार से तत्तद् संज्ञा का व्यपदेश होता है। दृष्टान्त रूप से कह सकते हैं कि शान्ति-भुवन अधिष्ठान और उत्पादन के कारण शक्ति और शिव क्रमशः शान्ता और शान्त संज्ञा प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना चाहिए। उक्त है—

किन्तु यः पतिभेदोऽस्मिन् सशास्त्रे शक्तिभेदवत् ।
कृत्यभेदोपचारेण तद्भेदस्थान भेदतः ॥

इस आगम शास्त्र में जो पतिभेद है, वह शक्तिभेद के समान उन पतिभेदों के स्थानभेद के कारण होने वाले कृत्य भेदोपचार के कारण है।

अधिकार अवस्थापन्न शिव सकल हैं। वे विन्दु से अवतीर्ण तथा अणु सदाशिवों से आवृत्त हैं। ये सब सदाशिव वास्तव में पशु आत्मा हैं, शिवात्मा नहीं हैं। इनमें किंचित् आणव मल अवशिष्ट रह जाता है। तत्फलस्वरूप इनकी ज्ञान—क्रियारूप शक्ति का तनिक संकोच रह जाता है। इनमें शिववत् अनावृत्त शक्ति नहीं होती। ये मुक्त पुरुष हैं तथापि मलावशेष रह जाने के कारण इनको परामुक्ति या शिवसाम्य प्राप्त नहीं होता। सदाशिवभुवन के अधिष्ठाता होने के कारण परमेश्वर भी सदाशिव हैं। वे स्वयं शिव हैं तथा पूर्वोक्त अणुसदाशिवों को स्व-स्व भुवन के भोग में नियोजित करते हैं। वे विद्येश्वर एवं मंत्रेश्वरों को उनके सामर्थ्य के अनुसार अशुद्धाध्वा के अधिकार में युक्त करते हैं। यह दो प्रकार का नियोजन कार्य ही अधिकारावस्था शिव अथवा सकलशिव का कार्य है। यही है उनका प्रेरकत्व अथवा प्रभुत्व। ये सदाशिवरूपी शिव ही समस्त जगत के प्रभु रूप में शुद्ध एवं अशुद्ध अध्वाओं के मूर्द्धदेश में विद्यमान रहते हैं। योगीगण इसी भाव से उनका अनुध्यान करते हैं। माया के उर्ध्व में, शुद्धाध्वा में अनेक-अनेक भुवन की स्थिति है। प्रत्येक भुवन में तद्नुरूप देह तथा कारण आदि के साथ भोग्यादि भी हैं। ये विशुद्ध वैन्दव उपादानों से रचित हैं। इनमें भी उर्ध्व तथा अधोभाव से क्रमात्मक उत्कर्षापकर्ष द्योतित होता है। दृष्टान्त रूप से यह कहा जा सकता है कि विद्या में जो वामा तथा ज्येष्ठादि भुवन हैं, उनमें तुलनात्मकतया ज्येष्ठा का भुवन अधिक उत्कृष्ट है। ज्येष्ठा की अपेक्षा रौद्रीय भुवन उत्कृष्ट है। विद्यातत्व में सात करोड़ मंत्र स्थित हैं तथा उनकी

अधीश्वरी सात विद्याराज्ञी विराजित है। ईश्वर तत्व में आठ विद्येश्वर अपने पुरों में विराजित है। शिखण्डी सर्वाति निम्न प्रदेश में हैं तथा अनन्त सर्वोच्च में। इनमें भी पूर्ववत् क्रमोत्कर्ष है। सदाशिव तत्व में भी ठीक ऐसा ही है।

यहाँ पशु आत्मा का विवरण देना आवश्यक है। पशु आत्मा स्वरूपतः नित्य विभु, चेतन तथा अन्यान्य शिवधर्ममय होने पर भी, संसारावस्था में इन सब धर्मों के विकसित स्वरूप के अनुभव से रहित है, सर्वज्ञानमयी है। सर्वक्रियामयी शक्ति शिव की भी है तथा पशु आत्माओं की भी है। भेद यह है कि शिवस्ववरूप में सर्वज्ञत्व एवं सर्वकर्तृत्वरूप शक्ति अनावृत्त, उन्मुक्त रहती है। पशु में यह सर्वदा है, तथापि अनादिकाल से पाशावरुद्ध है। माया, कर्म तथा मल ही पाश हैं। कोई पशु आत्मा एक पाश से बद्ध है, कोई दो या तीन से। तीन पाश बद्ध आत्मा को सकल कहते हैं। जिनके मायिक कामादि का उपसंहार प्रलय में हो चुका है तथापि मल एवं कर्म क्षीण नहीं है, वे प्रलयाकल हैं। विज्ञानादि उपायावलम्बन से कर्मक्षय हो जाने पर जब केवल मल नामक पाश अवशिष्ट रह जाता है, उस अवस्था में पशु आत्मा विज्ञान केवली है। विज्ञान केवली आत्मा भी त्रिधा विभक्त है। ये सभी मायातीत है, सभी के कर्मसमूह उच्छिन्न हो चुके हैं, तथापि किंचित् अधिकार मल अवशिष्ट है, अतः इन्हे शिवसाम्य रूप पूर्णत्व की प्राप्ति नहीं हो सकी। उक्त है—

उत्तीर्ण मायाम्बुधयो भग्नकर्ममहार्गलाः ।
अप्राप्त शिवधामानः त्रिधा विज्ञानकेवलाः ॥

त्रिविध विज्ञानकेवली का संक्षेप में विवरण प्रस्तुतहै—

(१) विद्यातत्वनिवासी मंत्र और विद्या—ये सात कोटि हैं और विद्येश्वर वर्ग की आज्ञा के अधीन हैं। इनका भुवन है विद्यातत्व में। विद्येश्वरगण पाशवद्ध 'सकल' जीवों के उद्धारार्थ इन मंत्र और विद्यासंज्ञक विज्ञानकल आत्माओं (देवताओं) का अपने अनुग्रह कार्य के कारणरूप में व्यवहार करते हैं। पंचकृत्यकारी होने के कारण विद्येश्वरगण में भी अनुग्रहत्व है। वामादि विद्या भुवन उत्तरोत्तरतया स्थित हैं। देह, भोग और इन्द्रिय आदि का उत्कर्ष इन भुवनों में क्रमशः अधिक है। ज्ञान, योग, संन्यास आदि उपायों से अथवा भोग द्वारा कर्मक्षय होने पर कर्मफल भोग के साधन भूत मायिक स्थूल एवं सूक्ष्म देह का आत्यन्तिक विश्लेष हो जाता है। इस अवस्था में आत्मा कैवल्य को प्राप्त करके माया के उर्ध्व शुद्ध विद्यातत्त्व का आश्रय लेकर अणुरूपेण स्थित हो जाता है। कर्म तथा माया का उच्छेद हो जाने पर भी मल शेष रह जाता है। इस मल की निवृत्ति हुए बिना आत्मा का पशुत्व नष्ट नहीं होता। अतः शिवत्वलाभ की संभावना नहीं रहती। मल के परिपाक के अनन्तर ही पशुत्व की निवृत्ति होती है। अतएव विज्ञानकेवली आत्मा केवली भाव तथा मायातीतावस्था सम्प्राप्त हो जाने पर भी अपरामुक्ति की भी प्राप्ति करने में असमर्थ रहता हैं। परमामुक्ति तो अत्यन्त दुष्प्राप्य रह जाती है। सृष्टि के आरम्भ में जिन आत्माओं का मल न्यूनाधिक रूप में परिपक्व हो जाता है, उन पर भगवान स्वयं कृपा करते हैं।

उनके मलपाक के अनुरूप कृपारूपी ज्ञानक्रिया शक्ति का उन्मीलन कर देते हैं। तदनन्तर इन्हें मंत्र एवं मंत्रेश्वर आदि शुद्ध पद पर नियोजित करके शुद्धाध्वा में भेज देते हैं। इनमें भी जो अत्यधिक शुद्ध होते हैं, उन्हें भगवान एकबारगी परतत्व या शिवतत्व में नियोजित कर देते हैं। शेष आत्माओं का मलपाक न हो सकने के कारण उनका आवरण अत्यन्त सघन रहता है। वे विज्ञान कैवल्य अवस्था में ही विद्यमान रह जाते हैं। आत्मा की स्वाभाविकी ज्ञानक्रिया रूप सर्वज्ञान शक्ति सुप्त रह जाते हैं। अतएव कैवल्यावस्था में भी इनका पशुत्व निवृत्त नहीं होता। विज्ञानकेवली आत्मायें कर्मरहित होने के कारण माया के कार्य तथा मायिक जगत को पार कर लेते हैं तथापि महामाया अथवा विन्दु के कार्यरूप विशुद्ध अध्वा या विशुद्ध जगत् में प्रवेशाधिकार न प्राप्त करने के कारण बीच में ही रह जाते हैं। कैवल्य तंत्र सम्मत मुक्ति नहीं है।

(२) ईश्वर तत्वनिवासी विद्येश्वर—इनकी संख्या आठ है। इनमें अनन्त प्रधान हैं। ईश्वर तत्व में इनके आठ भुवन हैं। इनमें भी उत्तरोत्तर गुणों की अधिकता परिलक्षित होती है। शिखण्डी से श्रीकण्ठ में अधिक गुण हैं। इनके भुवन, भोग, देहकरण आदि शिखण्डी की अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। श्रीकण्ठ से त्रिमूर्ति अधिक वैभवयुक्त हैं। इन सबकी अपेक्षा अनन्त परम श्रेष्ठ तथा ईश्वर हैं। इनका मल शान्त है। मात्र किंचित् अधिकार वासना शेष है। ये सभी शिव द्वारा ही अनुग्रहीत होते हैं। ये प्रशान्तमलत्व, अधिकार मल सम्बद्धत्व और शिवानुग्रहीत्व गुण मंत्रगण में भी रहते हैं। पंचकृत्यकारी होने के कारण जीवोद्धाररूप अनुग्रह के विद्येश्वरगण कर्त्ता होते हैं जबकि मंत्रगण अनुग्रह के कारण हैं। विद्येश्वरगण के सम्बन्ध में रौरवागम में उक्त है—

सृष्टिसंरक्षणादानभावानुग्रहकारिणः

ये सृष्टि, संरक्षण, संहार, निग्रह तथा अनुग्रह दाता हैं। इनकी आत्मशक्ति शिव के अनुग्रहात्मक संसर्ग के कारण विकास को प्राप्त हो जाती है—

शिवार्ककरसम्पर्कविकासात्मीयशक्तयः

(३) सदाशिवतत्वस्थ भुवनवासी पशु अथवा संस्कार्य सदाशिव—ये सदाशिव अथवा अधिकारावस्थापन्न शिव के समान पन्चकृत्यकारी हैं। सदाशिवतत्वाश्रित होने के कारण ये भी सदाशिव नाम से परिचित हैं। ये पारमेश्वरी कृपा के कारण शुद्धाध्वा के उर्ध्व में स्थित हैं। शुद्धाध्वा में विद्या, ईश्वर और सदाशिव तत्त्वों के आश्रय से भोक्तृवर्ग के सहित अठारह भुवन मुख्य हैं। प्रत्येक भुवन में उन भुवनों के अधीश्वर रहते हैं। इन आत्माओं ने तत्तद् भुवन के अधिष्ठाता की आराधना द्वारा अथवा दीक्षा के प्रभाव से इन भुवनों में स्थान प्राप्त किया है। सूक्ष्म स्वायम्भुव आगम में उक्त है—

यो यत्रामिलषेद् भोगान् स तत्रैव नियोजितः।
सिद्धिभाङ् मन्त्रसामर्थ्यात्॥

जो जिस भुवन के भोगों की इच्छा करता है, वह गुरु के द्वारा उसी में नियोजित होकर मंत्र की शक्ति से सिद्धि प्राप्त करता है। इस संदर्भ में स्वच्छन्द तंत्र में विशेष वर्णन प्राप्त होता है।

अब प्रलयाकल तथा सकल पशु आत्माओं के सम्बन्ध में कहा जा रहा है। प्रलयाकल में ईश्वर का उद्देश्य है दीर्घकाल तक संसार में परिभ्रान्त तथा श्रान्त आत्माओं को विश्राम प्रदान करना। उनके कर्मों का परिपाक करना तथा असंख्य कार्य परम्परा की उत्पत्ति के कारण शक्ति क्षय को प्राप्त माया की शक्ति वृद्धि करना। कला आदि भोग साधन प्रलयाकल में विलीन हो जाते हैं। अतः उस समय सभी आत्म समूह कर्म तथा मलरूपी पाश में बँधकर नवीन सृष्टि के उन्मेष पर्यन्त माया में अन्तर्लीन हो जाते हैं। इन्हें प्रलयाकल अथवा प्रलय केवली जीव कहा जाता है।

यद्यपि इन्हें कर्मक्षयावस्था नहीं प्राप्त है, तथापि ये सभी प्रलय के प्रभाव से कलादि से रहित होने के कारण एक प्रकार कैवल्यावस्था में विश्रान्त हो जाते हैं। इनमें से जिनका कर्म तथा मल परिपक्व हो चुका है, वे तत्काल परामुक्ति प्राप्त करते हैं। मलपाक तथा कर्मपाक की अभिज्ञता आवश्यक है। मलपाक प्रधानतः श्री भगवान की शक्ति के सम्बन्ध से ही होता है। कर्मपाक भी अनेकांश में मलपाक के ही समान है। कर्मों में अनेक भेदों की विद्यमानता रहती है। जो कर्म क्रमशः पक्व होते हैं, उनका क्षय जीव का देह सम्बन्ध होने पर (देह प्राप्त होने पर) भोग द्वारा होता है। जो एक साथ पक्य होने वाले हैं, उनका क्षय श्री भगवान् के अनुग्रह से होता है। उन्हें भोग द्वारा क्षय नहीं करना पड़ता। जिन जीवों के मल, कर्म तथा माया का परिपाक नहीं हो सकता, वे प्रलयाकल में नवीन सृष्टि का उन्मेष होने तक मुग्धावस्था में विश्राम करते रहते हैं। जब उन्हें भोग योग्य अवस्था सम्प्राप्त होती है, तब परमेश्वर अनन्त नामक विद्येश्वर में स्व-शक्ति का सन्निवेश करा कर, उनके द्वारा माया तत्व को क्षुब्ध कराते हैं। इससे अशुद्ध जगत् की संरचना होती है। अब इस सृष्टि में मुग्धावस्था में पड़े प्रलयकाल जीव कलादि भोग साधन को प्राप्त करके, सकल पशुरूपेण आविर्भूत होते हैं। इनमें पाशत्रय की सत्ता विद्यमान रहती है।

इन सकल पशुओं के अतिरिक्त एक अन्य प्रकार के सकल जीव भी हैं। इनके मल और कर्म का परिपाक हो जाता है। ये सृष्टि के प्रारम्भ में साक्षात् परमेश्वर का अनुग्रह प्राप्त कर, माया के गर्भ में स्थित जगत् का अधिकार प्राप्त करने के लिए अपरमंत्रेश्वर के पद पर प्रतिष्ठा प्राप्त करते हैं और अनन्त विद्येश्वर की कृपा से अतिवाहिक देह प्राप्त करते हैं। इन्हें भी सकल कहा जाता है। यह सकल मण्डल विश्व के व्यापार को सम्पन्न करने वाला मायागर्भस्य आधिकारिक मण्डल है। अतिवाहिक देह भी मायिक देह ही है। इतिपूर्व शुद्धाध्वा में स्थित मायोत्तीर्ण अधिकारी आत्माओं का विवरण दिया जा चुका है। इन अधिकारीगण के देह मायिक उपादान से रचित मायिक देह नहीं हैं प्रत्युत महामायारूप उपादान से गठित देहधारी हैं। यहाँ वर्णित मायागर्भस्थ सकल अधिकारियों को भी परमेश्वर के अनुग्रह से वैन्दव देह की प्राप्ति होती है, तथापि वह अत्यन्त सूक्ष्म रूप होता है। अतः यह वैन्दव देह सकल पशुओं के शासन का कार्य निष्पन्न नहीं कर सकता। इसी कारण सकल अधिकारीगण वैन्दव देह की सूक्ष्म सत्ता से युक्त होने पर भी मायिक देह युक्त होते हैं। इनका वैन्दव

शरीर इनके मायिक शरीर से अभिन्नतया युक्त हो जाता है। वैन्दव देह शुद्ध एवं बोधमय है। इनका मायिक देह अतिवाहिक होने पर भी मोहमयता से मुक्त नहीं होता। इतने पर भी वैन्दव देह से सम्बन्धित होने के कारण यह अतिवाहिक मायिक देह अपनी मोहमयता को त्यागकर बोधमयरूपेण भासित होता है। मंत्रवर्ग के सम्बन्ध में भी यही नियम है। इसके अतिरिक्त ऐसे भी जीव होते हैं, जिनके मल का पाक नहीं होता, तथापि पाप का क्षय हुआ करता है। अत: इन्हें विभिन्न भुवनों में आधिपत्य करने योग्य देह की प्राप्ति हो जाती है। ये भुवन अंगुष्ठ से लेकर कालानल पर्यन्त विभिन्न स्तरों में विभाजित हैं।

अब पाश का निरूपण किया जा रहा है। पाश से बद्ध होने के कारण आत्मा पशुभावापन्न होकर संसार का अनुभव करने लगता है। पाश अचेतन होता है। यह अचेतन के अधीन, परिणामशाली तथा चैतन्य का प्रतिबन्धक है। सबसे प्रधान पाश है मल। शुद्ध आत्म चैतन्यरूपा संवित शक्ति मलहीना है, स्वरूप की प्रकाशिका है। यह सदा अभिन्नरूपा तथा परिणमहीना भी है। तंत्र के दृष्टिकोण से पर-परादि बाह्य भेद भी सत्य हैं। इन बाह्य पदार्थों की स्थिति के कारण बौद्ध ज्ञान में तत्तद् प्रकार के विभिन्न आकार की उत्पत्ति होती है और उनका आत्मा के बोध में आरोपण होने लगता है। यद्यपि अर्थज्ञान की सन्निधि के कारण बौद्ध ज्ञान में भेद है, तथापि उसकी ज्ञानाश्रयी आत्मशक्ति किंवा ग्राहक चैतन्य का अवभासन सदा एक रूप में ही होता रहता है। वह नित्य और निर्विकार है। इस आत्मसंवित् को पौरुष ज्ञान कहते हैं। पौरुष ज्ञान से बौद्ध ज्ञान के पार्थक्य का भान न रहने के कारण ज्ञान में नानात्व का उदय होने लगता है। इसका मूल कारण मल है, जो पशुत्व का हेतु है। विशेष रूप से ज्ञात न होने के कारण वह संवित् मलाच्छन्न दृष्टि वाले पुरुष को द्विचन्द्रज्ञान के समान विभिन्न भावों से विवर्तित होने लगती है। उक्त है—

सा तु संविदविज्ञाता तैस्तैर्भावैर्विवर्तते ।
मलोपरुद्धदृक्छक्तेर्नरस्येवोडुराट् पशोः ॥

जब तक मल की निवृत्ति नहीं होती, तब तक पशुता दूर नहीं होती। शिवत्वाभिव्यक्ति तो असंभव ही है। मात्र ज्ञान से ही मलापसारण संभव नहीं है। द्वैतमल में मल द्रव्यात्मक है। जैसे आँखों का मोतियाबिन्द अस्त्रोपचार से निवृत्त होता है, उसी प्रकार ईश्वर के दीक्षासंज्ञक व्यापार के द्वारा इस मल की निवृत्ति हो जाती है। अन्य कोई उपाय नहीं है। स्वायंभुव आगमानुसार दीक्षा ही मल का मोचन करती है। तदन्तर शिवलोकपर्यन्त गति देती है। चित् तथा अचित् का अविवेक मल से उत्पन्न होता है। नीहार, अंजन, मृत्यु, अविद्या तथा आवरण आदि का मल ही नामान्तर है। मल की निवृत्ति के अनन्तर पूर्ण विवेक की प्राप्ति हो जाती है। इस अविवेक से अध्यास का उदय होता है। मल ही आणव पाश है। यदि आत्मा की नित्य और व्यापक चित्‌शक्ति का इस आणव पाश से विरोध न होता, उस अवस्था में संसारावस्था में भोगनिष्पत्यर्थ कलादि साधन समूह द्वारा अपने सामर्थ्य की उत्तेजना की

आवश्यकता ही न होती और मोक्ष हेतु कृपा या शक्तिपात का प्रयोजन ही नहीं होता। मल एक है, तथापि उसकी शक्ति अनेक है। उनमें से एक-एक शक्ति द्वारा एक-एक आत्मा की चित्क्रिया का निरोध होता है। अत: मल एक ही है तथापि एक व्यक्ति की मल निवृत्ति से समस्त प्राणी समूह की मल निवृत्ति नहीं हो सकती। मल की शक्ति अपने रोध तथा अपसारण क्रिया में स्वतंत्र नहीं है। वह पूर्णत: भगवत् शक्ति के अधीन है।

भगवत् शक्ति भी अनेक रूपों में व्यवहृत होती है। मलशक्ति स्वाधिकार के समय चैतन्य का रोध करती रहती है। इस स्थिति में भगवत् शक्ति भी मलशक्ति का ही परिणाम साधित करते-करते उनके निग्रह कार्य में हाथ बटाती है। इसे रोधशक्ति कहते हैं। जब भगवत् शक्ति सर्वानुग्रहशील नित्योद्योगमय सदाशिव के ईशान नामक मस्तक से निकलकर मोक्ष प्रकाशिका ज्ञानप्रभा द्वारा अणुवर्गीय हृदयकमलों को उन्मीलित करती है, तब उसे अनुग्रहशक्ति कहते हैं। मलाधिकार समाप्त होना ही मुक्ति है। मल में परिणत होने की योग्यता तो है, तथापि वह अपने आप परिणत हो सकने में असमर्थ है। मल अचेतन है, अत: सर्वदा सर्वप्रकारेण चित्शक्ति द्वारा प्रयुक्त होता रहता है। इसी कारण परमेश्वर के प्रभाव से ही मल का परिणाम हो सकता है। कर्मसंज्ञक पाश धर्माधर्मात्मक है तथा अदृष्ट एवं बीज नाम से ख्यात है। कर्मधारा प्रवाहरूप से अनादि है। यह सूक्ष्म देह के मध्य अवयवभूत बुद्धि तत्व में आश्रय लेता है।

माया पाश माया तत्व से सर्वथा भिन्न है। जब यह सृष्टिकाल में मंत्रेश्वर द्वारा क्षुब्ध किया जाता है, तब वह कला एवं विद्या आदि तत्वरूप से साक्षात् एवं परम्पराक्रमेण परिणाम को प्राप्त हो जाता है। कला से लेकर पृथ्वी तत्व पर्यन्त तीस तत्वों की समष्टि ही माया है। पुर्यष्टक तथा सूक्ष्म देहादि भी माया के ही नामान्तर हैं।[१] प्रत्येक आत्मा का सूक्ष्म शरीर पृथक् होता है। प्रलय अथवा मोक्षक्षण पर्यन्त कर्म का अनुसरण करते हुए निम्नवर्त्ती भुवनों में संचरण करता रहता है। मायातत्व अथवा मायापाश, एक ही स्थिति नहीं है। कलादि तत्वों की समष्टिरूपा माया अत्यन्त विस्तृत तथा समस्त आत्म समूह की भोग्यरूप भुवनावली का आधार है। विन्दु की विद्या, प्रतिष्ठा तथा निवृत्ति कलाओं में यह निश्चलवत् पड़ी रहती है। विद्याकला में माया, कला, नियति, विद्या (अविद्या), राग और प्रकृतिरूप सप्त भुवनागार हैं। इनमें अंगुष्ठमात्र भुवन से लेकर वामदेव नामक भुवन पर्यन्त २७ भुवन अवस्थित हैं। प्रतिष्ठा कला में गुणों से लेकर जलपर्यन्त तेईस तत्वमय भुवनाधारों की सत्ता परिलक्षित होती है। इनमें श्रीकण्ठभुवन से लेकर अमरेशभुवन पर्यन्त छप्पन भुवनों का सन्निवेश है। निवृत्ति कला में केवल मात्र पृथ्वीतत्व अवस्थान करता है। यह भद्रकालीपुर से लेकर कालाग्निभुवन तक एक सौ आठ भुवनों का आधार रूप है। इस

---

१. सांख्य तथा वेदान्त सम्मत सूक्ष्म या लिंग शरीर से तांत्रिकों का सूक्ष्म शरीर भिन्न है। कलादि तत्त्वों को सांख्य अथवा वेदान्त नहीं मानते। अत: इनकी सूक्ष्म शरीर वर्णना में भिन्नता है। अथच यह सभी ने माना है कि सूक्ष्म शरीर भोग साधनों में प्रधान है।

साधारण माया के विशाल राज्य में प्रत्येक आत्मा के भोगसाधनभूत संकोच विकासशील सूक्ष्मदेहमय असंख्य समष्टि यत्र-तत्र संचरण करती रहती है। इन्हें असाधारण माया किंवा पुर्यष्टक कहा जाता है। तत्तद् भुवन से उत्पन्न स्थूल देहों के साथ जब इन सूक्ष्म देहों का सम्बन्ध होता है, तब उनमें स्व-स्व कर्म भोग की योग्यता उत्पन्न हो जाती है।

माया तत्त्व नित्य, विभु तथा एक है। इसमें विचित्र शक्ति है। सृष्टि के आरम्भ में यह ईश्वरशक्ति के द्वारा क्षुब्ध होकर कला, काल तथा नियति—इन तीनों को उत्पन्न करता है। इनमें कला तत्त्व मलशक्ति को किंचित् अभिभूत करता है और आत्मा की चैतन्य शक्ति का किंचित् उद्‌बोधन करता है। परिणामत: आत्मा का स्वरूप उसके द्वारा अनुविद्ध होने के कारण स्वकार्य के लिए स्वल्प मात्रा में कर्तृत्वभाव का विकास होने लगता है। मल आत्मा की शक्ति का रोध कर देता है। शक्ति ही करण है। अतएव कलातत्त्व आत्मशक्ति के मलावरण का तनिक अपोहन करते हुए, आत्मा के कर्तृत्व को किंचित् मात्रा में उद्‌बुद्ध करके आत्मा को कर्मफल भोग में सहायता करता है। बुद्धितत्व का विषय से उपरंजित होना ही आत्मा का भोग है। यह एक प्रकार का संवेदन है, जिसका स्वरूप प्रवृत्तियों में अभिन्नतया भासित होता है। अनन्त विद्येश्वर माया का क्षोभ करते हैं। तांत्रिकगण माया के क्षेत्र में परमेश्वर का कर्तृत्व स्वीकार नहीं करते। परमेश्वर का प्रयोजकत्व अवश्य स्वीकार करते हैं। किरणागम में उक्त है—

शुद्धेध्वनि शिव: कर्त्ता प्रोक्तोऽनन्तोऽसिते प्रभु:

शुद्धाध्वा में शिव कर्त्ता हैं तथा अशुद्ध में अनन्त कर्त्ता होते हैं।

इस तरह माया विचित्र भुवनादि तथा नाना प्रकार के देहेन्द्रिय रूप में परिणत हो जाती है। यह त्रिविध बन्धनयुक्त सकल संज्ञक पशु के लिये ही है। इन पशुओं में अनात्मा में आत्माभिमान रूप मायामय बन्धन, सुख-दु:ख एवं मोह का हेतुभूत विपर्यय तथा आसक्ति आदि भावप्रत्ययात्मक कर्म बन्धन और पशुता की प्राप्ति कराने वाला अनादि आवरणमय आणव बन्धन रहता है। तंत्रमत में शरीरी और अशरीरी आत्मा के कर्तृत्व में कुछ भेद है। अत: परमेश्वर द्वारा स्वशक्ति के माध्यम से कराया गया महामाया का विक्षोभ तथा अनन्त द्वारा स्वशक्ति के माध्यम से कृत माया का विक्षोभ—सर्वथा एक प्रकार की स्थिति का परिचायक नहीं है। शिव की स्वशक्ति है संवित् अर्थात् विशुद्ध निर्विकल्प ज्ञान। अनन्त की स्वशक्ति है सविकल्प ज्ञान। यही विकल्प ज्ञान कहलाता है। "शरीर तथा इन्द्रियों का संयोग न रहने पर कर्म नहीं हो सकता।" यह धारणा त्रुटिपूर्ण है। अशरीरी आत्मा का भी स्वदेह स्पन्दनादि में कर्तृत्व देखा जा सकता है। जब आत्मा का मलादि से सम्बन्ध जुड़ जाता है, तभी शरीर की आवश्यकता होती है। शिव मल रहित हैं, अत: उनके कर्तृत्वादि के लिये शरीर की किंचित् भी आवश्यकता नहीं है। मायापति अनन्त सर्वथा निर्मल नहीं है। उनमें अधिकार मल अवशिष्ट है। अनन्तादि को सविकल्पक ज्ञान कैसे हुआ? तंत्रमतानुसार 'यह घट है' इस प्रकार परामर्शरूप शब्दोल्लेख से आत्मा को सविकल्पक ज्ञान होता है। उक्त है—

सविकल्पकविज्ञानं चितेः शब्दानुवेधतः

चिन्तन के साथ भाषा का सम्बन्ध सभी ने स्वीकार किया है। शब्दोल्लेख का अतिक्रमण किये बिना चिन्ताराज्य रूप विकल्पभूमि का भेदन कथमपि शक्य नहीं है। अतएव योगीजन स्मृति परिशुद्धि का अनुशीलन करते हैं। बौद्धों के अनुसार शब्द ज्ञानमात्र ही कल्पना है। वह प्रत्यक्ष नहीं है। अनन्त के ज्ञान में शब्दोल्लेख कैसे हो सकता है? यहाँ तब की आलोचना हो रही हैं जब अशुद्ध जगत् की उत्पत्ति नहीं हुई थी। माया तब तक क्षुब्ध नहीं थी। कारण यह है कि माया के क्षुब्ध होने पर ही अशुद्ध जगत् का उन्मेष होता है। इसी कारण तांत्रिकगण स्थूलाकाश को शब्द के अभिव्यंजक रूप से नहीं मानते। उनके अनुसार परमेश्वर द्वारा किया गया महामाया क्षोभ ही शब्दोत्पत्ति का कारण है। महामाया ही कुण्डलिनी या परव्योम है। इसका परिणाम है शब्द। पंचभूतों में आदिभूत आकाशदान (अवकाशदान) द्वारा स्थूल शब्दाभिव्यंजन से सूर्य-चंद्रादि का भोग एवं अधिकार सम्पादन कराता है, वैसे ही विन्दुरूप परमाकाश ही अवकाशदान तथा शब्द-व्यंजना के द्वारा शुद्ध जगत्वादी सर्वज्ञत्व एवं सर्वकर्तृता सम्पन्न विद्येश्वरगण के भोगाधिकार का कारण बन जाता है।

विन्दु अपनी परा-पश्यन्ति प्रभृति शब्दात्मिका वृत्तियों के सम्बन्ध से 'यह घट है' इत्यादि परामर्शरूप विकल्पोल्लेख करते हुये सविकल्पक ज्ञान को उत्पन्न करता है। जात्यादि विशेषण विशिष्ट सविकल्पक ज्ञान शब्दानुविद्ध होकर ही उत्पन्न होता है। यह ज्ञान प्रत्यक्षानुभव रूप है। इसको पूर्वानुभूत वासनात्मक भावना अथवा संस्कार रूप में ग्रहण करने का कोई कारण नहीं है। अध्यवसाय को बुद्धि का कार्य कहते हैं। अतएव कोई-कोई इस सविकल्प अनुभव को भी बुद्धि का ही कृत्य समझते हैं। तांत्रिक दृष्टिकोणानुसार यद्यपि अध्यवसाय बुद्धि का ही परिणाम है, तथापि विकल्प ज्ञान का उद्भव विन्दु के कार्य, शब्द की सहकारिता से होता है। माया के उर्ध्व में बुद्धि नहीं है, यह सत्य है, तथापि विद्येश्वरादि शुद्ध जगत् वासी जनों का विकल्पानुभव बुद्धिजनित नहीं है। उसका एकमात्र निमित्त है वाक् शक्ति। इस वर्णन से यह ज्ञात हो जाता है कि अनन्त किस प्रकार विकल्प ज्ञान के द्वारा माया को शुद्ध करके जगत् का सृजन करते हैं। इस सविकल्पक ज्ञान से अनन्त विद्येश्वर के कर्तृत्व का एक अन्य प्रक्रियानुसार भी उपपादन किया जाता है। यह प्रक्रिया सर्वत्र मान्य नहीं है, अतः उसका वर्णन करना अप्रासंगिक होगा।

विन्दु की शब्दात्मिका प्रवृत्ति वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ति एवं परा भेद से चार प्रकार की है।

वैखरी—श्रोत्रग्राह्य अर्थवाचक स्थूल शब्द है। कण्ठादि स्थानों से आघात होने पर वायु वर्ण का आकार धारण करता है। साधारणतः यह शब्द प्राण की वृत्ति का आश्रय लेकर प्रयुक्त होता है। अतः इसका उद्भव आकाश तथा वायु, दोनों से होता है।

मध्यमा—यह प्राणवृत्त से अतीत श्रोत्र का अविषय तथा अन्तः संकल्प रूप अर्थात् चिन्तन के रूप में भीतर ही भीतर चलने वाला है। परामर्श ज्ञान इसी का नामान्तर है। इसे शुद्ध बुद्धि का परिणाम कहते हैं। यह क्रम विशिष्ट है। यह स्थूल शब्द का कारण भी है।

पश्यन्ति—इसका नामान्तर अक्षर विन्दु है। यह स्वयं प्रकाश और वर्णों के अविभाग के कारण क्रमहीन है।

परा अथवा सूक्ष्मा—यह नाद के नाम से भी वर्णित है। यह अभिधेय बुद्धि का बीज है। इसका स्वरूप ज्योतिर्मय तथा प्रत्येक पुरुष में भिन्नवत् है। सुषुप्ति में भी यह निवृत्त नहीं होती। परावाक् के स्वरूप से पुरुष के स्वरूप का पृथक् रूप से साक्षात्कार करने पर पुरुष का भोगाधिकार निवृत्त हो जाता है। यह है मुख्य विवेक ज्ञान। जब तक इसका उदय नहीं होता, तब तक शब्दानुविद्ध ज्ञान से अतीत विशुद्ध निर्विकल्पक ज्ञान प्राप्त करने का कोई उपाय ही नहीं है। सांख्यसम्मत सत्वपुरुषान्यता ख्याति अथवा विवेकख्याति से तंत्रप्रसिद्ध आत्मा की स्वरूपस्थिति नहीं हो सकती। अतएव सांख्योक्त कैवल्य को आगम ने मोक्षरूपेण स्वीकृति नहीं दी है। वास्तव में इस अवस्था में आत्मा का पशुत्व विनिवृत्त नहीं होता और उसमें शिवत्वाभिव्यक्ति भी नहीं होती। इस प्रकार केवली में परावाक् का सम्बन्ध विद्यमान रहता है। दीक्षा के प्रभाव से मल की निवृत्ति होने पर ही पुरुष एवं परावाक् का पारस्परिक अविवेक उच्छिन्न हो जाता है। यही यथार्थ स्थिति है। इस प्रकार जीवमात्र में शब्दात्मिका वृत्ति की सत्ता रहती है। इन वृत्तियों के भेद से ज्ञान में उत्कर्ष एवं अपकर्ष का द्योतन होता है। इन्हें अतिक्रम करने के पश्चात् शिवत्वलाभ रूप मोक्ष आयत्त होता है।

शैव तथा शाक्ताद्वैत सिद्धान्त में अनेकांश में समानता परिलक्षित होती है। आत्मा चित् प्रकाशरूप है। उसकी विमर्शरूपा शक्ति उससे अभिन्न है। इसकी शक्ति को वाक् कहते हैं। द्वैतमत् से परावाक् विन्दु की वृत्ति है। इसका अतिक्रमण ही मोक्ष कहा जाता है। विन्दु शुद्ध है, अथच जड़ रूप है। अद्वैत मतानुसार परावाक् परमेश्वर की स्वतंत्र शक्ति का नामान्तर है। यह चिद्रूपा है। परावाक् अपनी पूर्णावस्था में आत्मा या परमेश्वर में अभिन्नतया स्थित रहती है। वाक्रूपा शक्ति की परावस्था को पूर्णाहंता कहते हैं। यह सदा प्रकाश मय एवं महामंत्रात्मक है। इसके गर्भ में अकार से लेकर क्षकार पर्यन्त समस्त शक्ति चक्र पड़े रहते हैं। परावाक् ही पश्यन्ति क्रम से उत्तरोत्तर भूमियों को प्रकाशित करती है। आत्मा अपनी स्वशक्ति से विमोहित होकर अपने पंचकृत्यकारित्व को भूल जाता है। सत्य तो यह है कि मायिक दशा में भी पंचकृत्यकारित्व सर्वथा आवरित नहीं होता। भक्तिपूर्वक अपने पंचकृत्यकारित्वमय स्वभाव का सर्वदा परिशीलन करने से, जीव का पारमेश्वरत्व प्रकाशित हो उठता है। अब वह जगत् को स्व-स्वरूप का विकास मानने लगता है। समस्त जागतिक पदार्थ आत्मा से अभिन्न रूप में भासित होने लगते हैं। यह है समस्त बन्धनों का उच्छेद! पंचकृत्यकारित्व का विस्मरण होना भी आत्मा का स्वभाव स्वातंत्र्य कहा गया है।

शक्तिपात के समय बलोन्मीलन के साथ-साथ पंचकृत्यकारित्व की अभिज्ञता प्राप्त होने लगती है।

आणवादि मलत्रय संकुचित ज्ञानात्मक है। इसके द्वारा जिस परिच्छिन्न ज्ञेयपदार्थ का ज्ञान होता है, वह भी ज्ञान से अभिन्न-सा रहता है। अ से लेकर क्ष तक के मातृका वर्ण में सब ज्ञान अधिष्ठित रहता है। वर्ण से ही समस्त विश्व की उत्पत्ति होती है। तंत्र ने इन्हें विश्व जननी मातृका रूप से अभिनंदित किया है। अज्ञात रहने पर मातृका ही बन्धन का कारण है। सम्यक् ज्ञान का विषय हो जाने पर इन मातृकाओं से ही परासिद्धि की प्राप्ति हो जाती है। मलात्मक ज्ञानत्रय निर्विकल्पक एवं सविकल्पक अवस्थाओं में भी शब्दानुविद्ध ही रहता है। मातृकाओं के प्रभाव से तत्तद् ज्ञान, तत्तद् शब्दों के अनुवेध द्वारा हर्ष-शोक प्रभृति विभिन्न भाव का आकार धारण करते हुये, अष्टवर्ग, निवृत्यादि पंचकला तथा कलादि के षडध्वाओं की अधिष्ठात्री ब्राह्मी प्रभृति शक्तिकोटि में भासमान होते हैं। अम्बिकादि शक्तिमण्डल का प्रभाव भी इनपर पड़ता है। मातृकाधिष्ठान से ही ज्ञान रूप पूर्णहन्ता में अभेदानुसंधान लुप्त हो जाता है और ज्ञानसमूह प्रति क्षण बहिर्मुखता से आक्रान्त होकर बन्धन बन जाते हैं।

अम्बा, ज्येष्ठा, रौद्री तथा वामा ही सब शक्तियों की कारणरूपा हैं। अकारादि मातृका ही कला, देवी, रश्मि कही जाती हैं। ये सब मातृकायें स्थूल वर्ण रूप में, पद और वाक्यों की योजना से अनेकानेक लौकिक तथा अलौकिक शब्द में परिणत हो जाती हैं। इन कलाओं के कारण पशु ज्ञान शब्दानुविद्ध हो जाता है और पशु कला समूह के अधीन होकर उनके भोग्य बन जाते हैं। इनके प्रभाव से ज्ञानाभास, आणव, मायीय तथा कार्ममलोत्पत्ति होती है, जिससे पशु का अपना वैभव लुप्त हो जाता है। ''मैं अपूर्ण हूँ'' यह आणव मल है। ''मैं कृश हूँ या स्थूल हूँ'' यह ज्ञानाभास मायामल है। ''मैं यज्ञादि करता हूँ'' यह ज्ञानाभास ही कार्ममल है। परमेश्वर अपनी स्वातंत्र्य शक्ति से सर्वाग्र में स्वस्वरूपाच्छादिनी महामाया शक्ति को अभिव्यक्त करते हैं। इसके कारण आकाशवत् निर्मल आत्मा में संकोचाविर्भाव होता है। यह संकोच अनाश्रित शिवतत्व से लेकर मायाप्रमाता पर्यन्त व्यापक है। पारमेश्वर स्वातंत्र्य की हानि ही इस संकोच का रूप है। यह परमेश्वरभाव का अस्फुरण कहा जा सकता है। इसे अपूर्णम्मन्यता, आणवमल, अज्ञान, अख्याति भी कहते हैं। अख्याति का अर्थ है, आत्मा में अनात्मभाव का अभिमान। अज्ञानात्मक ज्ञान तो बंधन है ही, परन्तु अनात्मा में आत्माभिमान रूप अज्ञानमूलक ज्ञान भी बंधन ही है। अतः आणव मल दो प्रकार का सिद्ध हो जाता है—

(१) चिदात्मा में स्वातंत्र्य का अप्रकाश अर्थात् अपूर्णम्मन्यता। यह विज्ञानकल पशु का मल है।

(२) स्वातंत्र्य रहने पर भी देहादि अनात्म सत्ता में अबोधात्मक आत्माभिमान।

विश्व का कारण है माया अथवा योनि। इससे जात कला से लेकर पृथ्वी पर्यन्त के समस्त तत्व (जिनसे विभिन्न भुवनादि, देहेन्द्रियादि उत्पत्ति होती है) मायामल रूप

हैं। इनके आश्रय से किया जाने वाला शुभाशुभकर्मानुष्ठान ही कार्ममल कहा गया है। कलादि तत्त्व आणवमल की भित्ति से सम्बद्ध होकर पुरुष को आच्छादित करते हैं। अतएव वे भी मलपदवाच्य है। मलत्रय तथा कला समूह की अधिष्ठात्री है मातृका शक्ति। इसमें अभेद ज्ञान की अधीश्वरी है अघोर शक्ति। इनके प्रभाव से बाह्याभ्यन्तर में आत्मभाव स्फुरित होता है। भेद ज्ञान की अधिष्ठात्री को घोराशक्ति कहते हैं। इनसे बहिरुन्मुखता तथा स्वरूपावरण का उदय होता है।

परावाक् प्रसृत होकर सर्वाग्र में इच्छा तदनन्तर ज्ञान एवं क्रिया रूप हो जाती है। तदनन्तर उसका 50 संख्यक मातृका रूप में परिणाम होता है। इनमें स्वरवर्णों में बीज अथवा शिवांश तथा व्यन्जन वर्णों में योनि अथवा शक्त्यंश प्रबल रहता है। ये वर्ण तकृद् प्रमाता में सविकल्पक तथा निर्विकल्पक अवस्थाओं में अन्त:परामर्शन के द्वारा स्थूल तथा सूक्ष्म शब्दों का उल्लेख करते हैं। इसी प्रकार वर्णादि देवताओं के अधिष्ठान से राग, द्वेष, सुख-दु:ख, भय आदि भावों की स्फूर्ति होती है। इस प्रकार संकोचहीन, स्वतंत्र, चिद्घन आत्मा का स्वरूप आच्छन्न होने से परिछिन्न एवं परतंत्र देहादिमय भाव का उदय होता है। ये सभी महाघोरा पशुमातृका शक्तियां भेदज्ञान उत्पन्न करती हैं। इनका आश्रय स्थल है ब्रह्मग्रंथि। ये ही पशु समूह के अध:पतन का कारण हैं। तत्वज्ञान लाभोपरान्त जब तक पुरुष सम्यक्रूपेण प्रमादहीन नहीं हो जाता, तब तक इन शक्तियों के शब्दानुबेध के द्वारा मोहगर्त्त में पतन की आशंका बनी रहती है। उक्त है—

ज्ञानिनामपि चेतांसि, देवी भगवती हि सा ।
बलादाकृष्य मोहाय, महामाया प्रयत्छति ॥

वह देवी भगवती ज्ञानियों के चित्त को भी बलपूर्वक खींचकर मोह में निपतित कर देती है।

प्रकाश तथा विमर्श, दोनों ही सृष्टि व्यापार के मूलाधार हैं। सृष्टि आदि समस्त कृत्य की पृष्ठभूमि में इन दोनों की सत्ता रहती है। जब पराशक्ति स्वातंत्र्योन्मेष के कारण अन्तर्लीनावस्था त्यागकर अभिव्यक्त होती है, तब विश्व रूप चक्र का आवर्त्तन होता है। वास्तव में शक्ति या विमर्श की ही अभिव्यक्ति होती है। प्रकाश में उपचार मात्र ही होता है। तत्वमात्र ही शक्ति के स्वातंत्र्योल्लास की ही विशेष विशेष अवस्था मात्र है। अत: शिवतत्व भी तत्व होने के कारण शक्तिकोटि में परिगणित होता है। प्रकाश-विमर्श को एक प्रकार से परमविमर्श का ही रूप भेद माना जाता है। शुद्ध प्रकाश अनुत्तर, विश्वोत्तीर्ण तथा तत्वातीत है। प्रकाश में ही विमर्श अन्तर्लीन रहता है। अत: प्रकाश एवं विमर्श, दोनों ही विमर्शात्मक अथवा शक्त्यात्मक हैं। उनमें अंशकल्पना की जा सकती है। वामकेश्वर शास्त्र के अनुसार प्रकाश के चार अंश है। यथा अम्बिका, वामा, ज्येष्ठा तथा रौद्री। विमर्शांश का नाम है शान्ता, इच्छा, ज्ञान तथा क्रिया। अम्बिका और शान्ता की सामरस्यावस्था में शान्तभावापन्न पराशक्ति ही परावाक् है। यह आत्मस्फुरण की स्थिति है। उक्त है—

आत्मनः स्फुरणं पश्येद्यदा सा परमा कलाः।
अम्बिकारूपमापन्ना परावाक् समुदीरिता ॥

जिस समय वह पराशक्ति स्व-स्फुरण को लक्ष्य करती हैं, उस समय वह अम्बिका रूप को प्राप्त होने से परावाक् कहलाती है। इस आत्मस्फुरणावस्था में समग्र विश्व बीज रूप में, अस्फुटरूप में, आत्मसत्ता में, विद्यमान रहता है। इसके अनन्तर शान्ता से इच्छा का उदय होने पर अव्यक्त रूप विश्व शक्तिगर्भ से बहिर्गत होता है। अब इच्छाशक्ति वामाशक्ति से तादात्म्य प्राप्त करते हुये पश्यन्ति वाक्रूप हो जाती है। इसके अनन्तर ज्ञानशक्ति का आविर्भाव होता है। ज्ञानशक्ति ज्येष्ठा से अभिन्न है। इसे मध्यमावाक् कहते हैं। यह शक्ति समस्त सृष्ट विश्व का कारण है। ज्ञानानन्तर क्रियाशक्ति रौद्री के साथ एकीभूत होकर वैखरी कहलाती है। प्रपंचात्मक वाग्वैचित्र्य ही वैखरी का रूप है।

यह चतुः वाक् परस्परतयां मिलित होकर मूल त्रिकोणाकृति महायोनि में परिणत हो जाता है। शान्ता तथा अम्बिका का सामरस्य (परावाक्) ही इस त्रिकोण का केन्द्र हैं। यह नित्यस्पन्दमय रहता है। इसकी वामरेखा है पश्यन्ति, वैखरी दक्षिण रेखा है। मध्यमा सरल अग्ररेखा है। मध्यस्थ महाविन्दु ही अभिन्न विग्रह शिव और शक्ति का आसन है। यह त्रिकोण मण्डल चित्कला के प्रभाव से उज्ज्वल है। इसके बाहर क्रम विन्यस्त रूप से शान्त्यतीत, शान्ति, विद्या, प्रतिष्ठा तथा निवृत्ति रूप पंच कलाओं का आभामय स्तर विद्यमान है। इन स्तरों की समष्टि ही जगत् का रूप है। अतएव भूपुर से महाविन्दु पर्यन्त विस्तृत विश्वचक्र को महाशक्ति का विकास कहा जाता है। मध्य त्रिकोण को विन्दु-विसर्गमय कहते हैं। (तांत्रिक सिद्धान्त के अनुसार देवता मात्र या यांन्त्रिक रूप वासना भेद से जगत् का ही रूप है। प्रत्येक यंत्र का बाह्य चतुष्कोण ही भूपुर है। यह विश्व नगर का प्राकार स्वरूप है। पूर्वादि किसी भी मार्ग से उसमें प्रवेश करते हुये, अन्तरतम में प्रवेश करते जाना ही साधना है। यंत्र का केन्द्र विन्दु, उस यंत्र की अंतिम भूमि है। यहीं साक्षात्कार होता है।) मध्य त्रिकोण की प्रत्येक रेखा को पंचस्वरमयी कहते हैं। इस पंचदशस्वरात्मक त्रिकोण मण्डल का विन्दु स्थान विसर्ग कलाओं से आक्रान्त रहता है। इस त्रिकोण के स्पन्दन से अष्टकोण कल्पित होते हैं। यह रौद्री शक्ति का प्रतीक है और शान्त्यातीत कला से उज्ज्वल होता है। इसका प्रत्येक स्तर प्रकाश तथा विमर्श से ओत-प्रोत रहता है। तत्तद् वर्ण (वाचक) तथा तत्तद् तत्त्व (वाच्य) का तादात्म्य तत्तद् चक्रांश में प्रत्यक्षतः अनुभूत होता है। समस्त चक्र में अकार से क्षकार पर्यन्त वर्णमाला तथा शिव से लेकर पृथ्वी पर्यन्त तत्त्व समूह अभिव्यक्त होते हैं। साधक जिस समय कुण्डलिनी जागरण के अनन्तर उर्ध्वोत्थित होने लगता है अथवा इष्ट देवता के स्वरूपभूत चक्रान्तर्गत् प्रविष्ट होने लगता है, उस समय वह इस विश्वचक्र में ही गतिशील रहता है। अकुल से महाविन्दु पर्यन्त एक विशाल महामार्ग परिलक्षित होता है। इस महामार्ग में जितने भी चक्र हैं, उन सबकी समष्टि ही विश्वचक्र है। इसमें अकुल आज्ञाचक्र पर्यन्त अंश

सकल, आज्ञाचक्र से ऊपर विन्दु से उन्मना पर्यन्त अंश सकल-निष्कल तथा उन्मना के बाद का महाविन्दु अंश निष्कल कहा जाता है। योग मार्ग के सकलांश में सबसे पूर्व अकुल अथवा विषुवत मार्ग है। तदनन्तर अष्टदलोपरान्त षट्दल युक्त कुलपद्म की सत्ता प्रत्यक्ष होती है। इसमें अग्रगामी मार्ग को कुलमार्ग कहते हैं। षट्दल कमल के ऊपर मूलाधार और उससे ऊर्ध्व में शक्ति या हृल्लेखा स्थान है। यह अनंगादि देवगण से परिवेष्ठित है। यह आधार कमल से ढाई अंगुल ऊर्ध्व पीताभ कर्णिका मध्य में पूर्णतया सुप्रतिष्ठित है। हृल्लेखा से दो अंगुल ऊर्ध्व में स्वाधिष्ठान कमल स्थित है। तदनन्तर मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, लम्बिकाग्र (अष्टदल) तथा अन्त में आज्ञाचक्र स्थित है। इस सकल मार्ग में अग्नि, सूर्य तथा चन्द्र के बिम्ब दिखलाई पड़ते हैं। मूलाधार में अग्निबिम्ब, अनाहत में सूर्यबिम्ब, तथा विशुद्ध में चन्द्रबिम्ब का परिदर्शन होता है। आज्ञाचक्र के उर्ध्व में विन्दु से उन्मना पर्यन्त की भूमि को क्रमशः बिन्दु, अर्धचन्द्र, निरोधिका, नाद, नादान्त, शक्ति, ब्यापिनी, समना तथा उन्मना कहा जाता है। इतना मार्ग सकल निष्कल रूप है। अर्धचन्द्रादि कलायें विन्दु भेद के अनन्तर क्रमशः मिलती हैं। उन्मना पर्यन्त पहुँचने पर काल की कला, तत्त्व, देवता और मन भी निरुद्ध हो जाता है। इन्हें तांत्रिक परिभाषानुसार रुद्रवक्त्र कहा जाता है। यह अन्तिम भूमि सर्वथा निराकार, उच्चार रहित, शून्यमय तथा विश्वातीत है। इसके पश्चात् महाविन्दु ही निष्कल भूमि है। इसका नामान्तर है सदाख्य (सदा शिव रूपी आसन)। यहीं तत्वातीत शिव-शक्ति की क्रीड़ा होती रहती है। यह सब योग मार्गीय चक्रभेद के अनुसार वर्णित है। उपासना क्रम से भी इनका वर्णन हो सकता है। श्री चक्र में प्रविष्ट होकर क्रमशः तत्त्वातीत अवस्था में उन्नीत होने के लिये मार्ग में विभागत्रय का आभास प्राप्त होता है। यथा चतुष्कोण से त्रिकोण पर्यन्त, विन्दु से उन्मना पर्यन्त तथा महाविन्दु। दूसरा तथा तीसरा सकल-निष्कल तथा निष्कल मार्ग से भिन्न है। प्रथम विभाग पूर्वोक्त सकल मार्ग का ही नामान्तर है। वासना भेद से स्थान तथा उपाधि में भेद हो गया है। अतः श्री चक्रान्तर्गत् भूपुर, षोडशदल, अष्टदल, चतुर्दशार, बाह्यदशार, अन्तःदशार, अष्टकोण तथा त्रिकोण सुषुम्ना पथ पर निम्नस्थ अकुल पद्म से लेकर आज्ञाचक्र पर्यन्त में प्रवेशाधिकार मिलने के पश्चात् वासना नहीं रहती और आगे की भूमियों में कोई भेद ही नहीं रह जाता। यहाँ यह स्मरण रखना चाहिये कि साधना के दृष्टिकोण से वास्तव में महाविन्दु ही विश्व का हृदय है। यही विश्वातीत परमेश्वर अथवा शिवशक्ति का आसन भी है।

महाविन्दु को शवरूपी सदाशिव भी कहते हैं। इस शव के वक्ष पर चित्कला स्वातंत्र्यमय खेल खेलती रहती है। यह क्रीड़ा परावाक् अथवा परामातृका का विलास है। शुक्ल एवं रक्त विन्दु रूप प्रकाश-विमर्शात्मक काम कलाक्षर के परस्पर संघट्ट से चित्कला अभिव्यक्त हो जाती है। महाविन्दु के स्पन्दन से तीनों विलीन विन्दु विभक्त होकर रेखारूप में परिणत होते-होते महात्रिकोणाकृति हो जाते हैं। इसी से शिव से पृथ्वी पर्यन्त के षट्त्रिंश तत्त्व से निर्मित विश्व की रचना होती है। तत्वातीत अवस्था

में शिव-शक्ति का सामरस्य रहता है। तब विश्व शक्ति के गर्भ में अन्त: संहृत भाव से विद्यमान रहता है, परन्तु जब पराशक्ति स्वस्फुरण को स्वयं स्वेच्छा से देखती है, तभी विश्व सृष्टि होती है। इस स्फुरण का दर्शन ही विश्वदर्शन है। विश्वदर्शन ही विश्व की सृष्टि है। अब दृष्टि ही सृष्टि हो जाती है। अनुत्तर दशा में स्वरूपावस्थित विश्व को देख सकना शक्य नहीं है। इसे सृष्टि से अतीत अवस्था कहते हैं। दृष्टि अथवा सृष्टि व्यापार में शिव का कार्य है तटस्थ रहना। उनकी स्वरूपभूता स्वातंत्र्य-शक्ति ही सब कुछ करती रहती है। शिव अग्नि स्वरूप, प्रलयानल अथवा संवर्त्तानल स्वरूप कहे जाते हैं। शक्ति विवर्त्तचन्द्ररूपा सोम है। शिव-शक्ति का साम्य तांत्रिक भाषा में विन्दुरूप से ख्यात है। विन्दु का नामान्तर है रवि अथवा काम। इससे क्षोभ होने पर (साम्य भंग होने पर) सृष्टि का आविर्भाव होता है। साम्यावस्था में अग्नि तथा चन्द्ररूपी रक्त तथा शुक्ल विन्दु (अ तथा ह) 'म' रूप में अभिन्न रहते हैं। क्षुब्धावस्था में चित्कला का आविर्भाव होता है। अग्नि के ताप से घृत विगलित हो जाता है, उसी प्रकार प्रकाशरूप अग्नि के सम्पर्क से विमर्शात्मिका शक्ति का स्राव होने लगता है। इस प्रकार श्वेत तथा रक्त विन्दुओं के मध्य से हार्धकला का नि:सरण होता है। चैतन्याभिव्यक्ति का यही रहस्य है।

इस महात्रिकोण में चार पीठ है। प्रत्येक पीठ में विश्व का रूप प्रतिभासित होता रहता है। वह स्वरूपत: बीजरूप है, और बाह्यत: सृष्टिरूप। पीठ का तात्पर्यार्थ है प्रकाश एवं विमर्श का साम्यभाव। उदाहरणार्थ अम्बिका तथा शान्त्या का सामरस्य रूप है 'कामपीठ'। यह पीठ पीतवर्ण चतुष्कोणाकृति है और आधार स्थान में विराजमान है। इसी का नामान्तर है 'मन'। इस पर विन्दु तथा चैतन्य का प्रतिबिम्ब पड़ते ही स्वयंभूलिंग प्रतिच्छवित हो उठता है। यह पीठ महात्रिकोण का अग्रपीठ है। अथवा अग्रकोण है। महात्रिकोण के अन्य कोणद्वय पूर्णगिरी पीठ तथा जालंधर पीठ के नाम से प्रसिद्ध है। इनसे प्रतिफलित होने वाला चैतन्य इतरलिंग तथा बाणलिंग कहलाता है। वास्तव में ये दोनों बुद्धि एवं अहंकार के ही प्रतिरूप अथवा नामान्तर ही हैं। देह में इनका स्थान है हृदय तथा भ्रूमध्य। मध्य विन्दु को उड्डीयान अथवा श्री पीठ कहा गया है। यह चित्तस्वरूप है। इसमें प्रतिबिम्बित ज्योति को परलिंग कहा जाता है। प्रत्येक प्रतिलिंग निर्दिष्ट संख्यक वर्णों से मण्डलाकृति घिरा हुआ है, परन्तु परलिंग सभी वर्ण समूह से वेष्ठित परिलक्षित होता है। परलिंग ही परमपद का प्रथम स्पन्दन है।

शिव-शक्ति का अहं परामर्श पूर्ण स्वाभाविक प्रतीत होता है, अत: वही पूर्णाहंता स्थिति मानी गयी है। यह स्थिति निर्विकल्प ज्ञानात्मक है। इसमें स्वातंत्र्यवशात विभागाविर्भाव होता है। पूर्णाहंता या परावाक् विभागदशा में ही पश्यन्तादि रूपत्रय धारण करती है। इसके प्रत्येक रूप में स्थूल-सूक्ष्म तथा परभेद के कारण तीन-तीन अवस्थायें उदित हो जाती है। यद्यपि परमतत्त्व निरंश प्रकाशरूप है, तथापि उसकी मुख्य शक्तित्रय में भेदावभासन होने के कारण विभाग का उदय होने लगता है। इन मुख्य शक्तित्रय का विवरण प्रस्तुत है—

(१) परा अथवा अनुत्तरा = यही चित्शक्ति है।

(२) परापरा = यही इच्छा शक्ति है।

(३) अपरा = इसका नामान्तर है उन्मेषरूपा ज्ञान शक्ति।

इन तीनों का अभिन्न स्वरूप ही परमेश्वर की पूर्णमयी शक्ति के रूप में आत्मप्रकाश करता है। इसमें अनुत्तर अथवा चित् 'अ' है। इच्छा 'इ' है और उन्मेष अथवा ज्ञान है 'उ'। यह शक्तित्रय अ, इ, उ रूप त्रिकोण रूप में आत्मप्रकाश करता है। प्रत्येक का एक क्षोभरूप भी दृष्टिगत होता है। इस प्रकार शक्तियाँ भी तीन के स्थान पर छः हो जाती हैं। अ के क्षोभ से आ, इ के क्षोभ से ऊ और उ के क्षोभ से ऊ होता है। आ आनन्द है, ई ईशानत्व है और ऊ ऊनत्व का वाचक। आनन्दादि शक्तिनिचय क्षुब्धावस्था में भी स्वस्वरूप से स्खलित नहीं होते। अतः मलिनता का संचार भी नहीं हो सकता। अब यही षट्शक्ति समूह पारस्परिक संघट्ट से अन्य शक्तियों का उन्मेष कराते हैं। ये छः संख्यक स्वर अर्थात् अ, आ, इ, ई, उ तथा ऊ ही वर्णसन्तति के मूल कहे जाते हैं। यही है षड्देवता तथा सूर्य की मुख्य षड्रश्मि। इनका पारस्परिक संघट्ट ही क्रियाशक्ति रूप है। इससे द्वादश शक्तियाँ विकसित हो जाती है। ऋ, ॠ, लृ, लॄ, रूप चतुःस्वर नपुंसक कहे गये हैं। इनसे सृष्टि नहीं हो सकती। अतएव सम्पूर्ण शक्ति, अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः के ही अन्तर्गत रहती हैं। यही है प्रधान शक्तिचक्र! इस प्रधान शक्तिचक्र से समन्वित होने के कारण शिव को पूर्णशक्ति कहा जाता है। कहीं-कहीं द्वादश शक्ति समूह को कालिका की संज्ञा प्रदान की गयी है। श्री सारशास्त्र में इन द्वादश शक्ति समूह की संज्ञा है द्वादश योगिनी। सभी द्वादश शक्तियाँ प्रक्षीणमल, शुद्ध तथा उद्रिक्त चैतन्य स्वरूप प्रतिच्छवित होती रहती हैं। इनके ज्ञान क्रियात्मक सामर्थ्य पर कोई आवरण ही नहीं रहता। चतुःषष्टि (६४) योगिनी समूह भी इन द्वादश शक्तियों से ही प्रसवित हैं। इनकी समष्टि है अघोराशक्ति। घोरा तथा घोरतराशक्ति समूह इसी से प्रसवित हैं। सृष्ट्यादि क्रम में इन द्वादश शक्ति समूह के पृथक्-पृथक् रूप कार्यरत रहते हैं। अनाख्याक्रम में भी इनके पृथक् रूपों का ज्ञान होता है। जिस क्रम में सृष्टि आदि उपाधि है ही नहीं, वही है अनाख्या। निरुपाधिस्वरूप परासृष्टि में भी यही विभाग विद्यमान रहता है।

स्वरूपगत उपाधिहीनता दो प्रकार से संभव है। प्रथमतः उपाधियों के अनुल्लास के कारण तथा द्वितीयतः उपाधियों के उपशम के कारण। उपाधियों का उपशम पाक से ही होता है। तांत्रिक आचार्यगण के अनुसार मधुपाक तथा हठपाक रूप दो पाक अवस्थित हैं। जो साधक गुरु की आराधना करके समयी एवं पुत्रकादि दीक्षा प्राप्त करते हुये नित्य-नैमित्तिक कर्मों में निष्ठा रखते हैं, वे देहपात के अनन्तर सृष्टि प्रभृति उपाधियों से मुक्त हो जाते हैं। क्रमशः सृष्टि आदि उपाधि समूह चिदग्नि में भस्म होने के कारण, अचिद् भाव का परिहार होता है और आत्मशक्ति स्फुरित हो उठती है। अब यह क्रम यथोक्त रूप से कहा जा रहा है। ज्ञानाग्नि के उद्दीपन के अनन्तर एवंविध पाक द्वारा सृष्टि आदि पदार्थगत भेद भी उच्छिन्न होने लगता है। इससे सम्पूर्ण

विश्व अमृतत्वपूर्ण प्रतीत होने लगता है। दूसरा अर्थ है बोध के साथ तादात्म्य की स्थापना। इस अमृतपूर्ण विश्व का भोग अ-आ इत्यादि द्वादश शक्तियाँ करती हैं। वे परबोध (परमेश्वर) के साथ अभिन्नतया परामर्शन करने लगती हैं, क्योकि समस्त शक्तियाँ अघोराशक्ति की ही प्रकाशस्वरूपा हैं। इस भोग से इन शक्तियों की तृप्ति हो जाती है। अब इन्हें एक-दूसरे की आकांक्षा नहीं रह जाती। वे हृदयस्थ द्योतनमात्रस्वरूप परप्रकाश या परमतत्व के साथ अभेदरूपेण स्फुरित होने लगती हैं। समस्त शक्तियाँ परमेश्वर के रूप में विश्रान्त तथा अभिन्न हैं, तथापि कृत्य, क्रियावेश, नाम तथा उपासना भेद के कारण भिन्न-भिन्न भासित होने लगती हैं। अत: जहाँ एक ओर संख्या में द्वादश होने पर भी मिलकर एक हो जाती हैं, वहीं दूसरी ओर कोटि-कोटि भिन्न रूपों में भी आर्विभूत हो सकती हैं।

✤

शास्त्र

समस्त शास्त्रों का गुह्यतत्व एकमात्र योगियों को ही अधिगम्य होता है। जगत्तत्व भी एकमात्र योगाभ्यास जनित ज्ञान का अधिकारी होने पर ही आत्मप्रकाश करता है। शास्त्रों की यथार्थ व्याख्या लौकिक व्यवहार क्षेत्र में अप्रासंगिक-सी हो जाती है, कारण साधारण मनुष्य सामान्य दृष्टि से जो कुछ देख सकता है, उसे सम्यक् रीति से समझने के लिये किसी असाधारण उपाय का अवलम्बन नहीं करता। सत्य दर्शन की दिशा असाधारण दिशा होती है। विशेषज्ञ के अभाव में इस दिशा का ज्ञान नहीं होता। असाधारण होने के कारण शास्त्र के यथार्थ व्याख्यात्मक तथ्य को अग्राह्य किंवा उपेक्षणीय नहीं कहा जा सकता। इस चिरपरिचित दृश्य को हम जिस दृष्टि से देखते हैं, एक उच्चकोटि का द्रष्टा उस प्रकार से नहीं देखता। उसकी सूक्ष्म दृष्टि में जगत् का जो चित्र प्रतिभात होता है, वह सर्वजन प्रसिद्ध चित्र से भिन्न होने पर भी सत्यरूप है।

पंच ज्ञानेन्द्रियों की सहायता से रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श के समष्टिभूत स्थूल भावापन्न जगत को विचित्र भाव से निरन्तर अनुभव किया जाता है। प्रश्न उत्थित होता है कि इसका स्वरूप क्या है? जिसकी इन्द्रिय जितनी विकसित तथा जिस परिणाम में बलाधान युक्त होती है, वह उसी मात्रा में जगदानुभव करता है। रूपग्राहक चक्षु न हो तो रूपसत्ता व्यक्त नहीं होती। इन्द्रियों की बहिर्मुखी वृत्ति के निरुद्ध होने पर तद्गोचर जगत भी विलीन होने लगता है। बहिजर्गत् समष्टि आत्मा का ही कल्पनास्वरूप है। निर्विकल्प परमपद में, विशुद्ध चिद्भूमि में संकल्पोदय नहीं होता। वह मन, वाणी के परे तथा स्वप्रकाश अव्यक्तावस्था ही है। उसमें सदा एवं स्वभावत: संकल्प स्फुरित होता रहता है। यह स्वातंत्र्य स्पन्दनशक्ति का ही विलास है। इसका कोई हेतु नहीं है। चक्षु के समान यह अपने आप होता है। अत: चैतन्य के स्वरूप गर्भ में एक ओर जैसे कूटस्थ शिवभाव विराजमान रहता है, दूसरी ओर उसी प्रकार स्पन्दनात्मक शक्ति भाव है। शिवभाव में शक्ति भी शिवाकार में विराजमान होती है। शक्तिभाव में शिव भी शक्तिभाव रूप हो जाते हैं। दोनों की साम्यावस्था में शिवशक्ति का अद्वयरूप तत्वातीतरूप में स्थित हो जाता है। यहाँ यह ज्ञात रखना चाहिए कि शक्ति की यह नित्यस्फूर्ति ही अनादि संकल्पना है। इसे पृथक्भाव से देखने पर (प्रापंचिक दृष्टि से) यह जगत के आदि संकल्प अथवा नियति के रूप में प्रकाशित हो जाता है। शुद्ध चैतन्य में इस चिन्मय अनादि संकल्परूप विश्व की सत्ता रहती है। इसके उर्ध्व में यह आदि संकल्प का प्रकाश ही संकल्पमय अतिवाहिक जगत का विलास कहा जाता है।

जिस व्यापक अभिमान में यह विशाल अतिवाहिक जगत विघृत हो रहा है, वही समष्टि आत्मा है। इस स्थिति में अतीत अनागतरूप खण्डकाल की सत्ता नि:शेष रहती है। एक नित्य महाकाल विराजित रह जाता है। अब दूर-निकट पृथक् रूप देश

(Space) की सत्ता भी नहीं रहती। एक नित्य सन्निकृष्ट महादेश रहता है, जिसमे कार्य-कारणरूप व्यवधान नहीं होता। एक व्यापक कारणसत्ता अवस्थित रहती है। इस भूमि में संशय, मिथ्या ज्ञान, विकल्पादि का अत्यन्ताभाव रहता है। तदनन्तर जब आदि संकल्पना के क्रमिक विवर्त्तन में द्वितीय अथवा मिथ्या संकल्परूप विकल्प का प्रादुर्भाव होता है, तब व्यापक अभिमान परिच्छिन्न होकर नानाविध व्यष्टि आत्मा के प्रपंच में अवतीर्ण होने के पूर्व ही समष्टि आत्मा का कल्पना स्वरूप यह विशालतम जगत अपने दृश्य जगत के रूप में वर्तमान रहता है। व्यष्टि अहं इन्द्रियों की सहायता से इस बाह्य जगत का परिचय तो पाता ही है, तथापि व्यष्टि भावापन्न होने के कारण इस जगत् के कल्पना जाल को सत्य समझने लगता है। इस बोध पर प्रतिष्ठित होने से उसका व्यक्तिगत एवं सामाजिक जीवन सहस्त्रो जन्म के बीच प्रवाहित होता चला आ रहा है। पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, लोक-लोकान्तर, सभी इसी बोध में अनुस्यूत हैं। बाह्य जगत् की इस भ्रामक प्रतीति को सत्य समझते रहने तक, यथार्थ तत्व का सन्धान नहीं मिल सकता। तब तक बाह्यकर्म करना ही पड़ता है। साथ ही कर्त्तृत्वाभिमान के वैशिष्ट्य के अनुसार कर्मानुरूप फल भोग करना पड़ता है। यह कार्यकारणभाव के अमोघ नियम का फल है। स्थूलदेह में देहाभिमान रहने तक स्थूल जगत् सत्य प्रतीत होगा। जीवगण इसी प्रकार स्थूल इन्द्रियों के माध्यम से स्थूल जगत् में रंजित रहते हैं। इसका परिणाम है देहान्त तथा पुनः देहग्रहण। जब तक स्थूल का वासनारूप बीज विद्यमान है, तब तक स्थूल का आत्यन्तिक परिहार नहीं हो सकता। यही चक्र कल्प-कल्पान्तर से चलता आ रहा है। इसकी कोई इयत्ता ही नहीं है।

यही संसार चक्र है। इसमें आपाततः उर्ध्वगति है, तिर्यक् गति तथा अधोगति भी है। यह चक्राकार गतिरूप कहा जाता है। सांसारिक जीव उर्ध्वगति से विच्छिन्न रहता है। इन्द्रियाँ बहिर्मुखी दशा में स्थूल जगत को ग्रहण करती हैं परन्तु इनकी अन्तर्मुखी गति प्राप्त होने पर पाँचभौतिक जगत् ग्रहण नहीं किया जा सकता। इन्द्रियों तथा शरीर को प्राण ही गति प्रदान करता है। यद्यपि आसनादि द्वारा भी किंचिदांश में देह स्थिर होती है और प्राण भी क्रमशः स्थैर्य को प्राप्त करता है, तथापि सम्यक् स्थिरता प्राप्त नहीं होती। इस हेतु प्राणायाम सर्वोत्कृष्ट साधन है। प्राण के स्थैर्य्य के साथ-साथ इन्द्रियाँ भी स्थिर हो जाती हैं और जगदानुभव समाप्त होने लगता है। जब समस्त इन्द्रिय समूह अपनी-अपनी वृत्तियों के साथ विन्दु स्थान में विलीन हो जाते हैं, तब रूपरसादिशब्दस्पर्शगंधात्मक विचित्र जगत् शून्य में अन्तर्लीन हो जाता है। यहाँ तक कि देह की सत्ता का भी बोध नहीं रहता। मात्र 'अहंबोध' एक सूक्ष्म तैजस सत्ता को आश्रय करके प्रकाशित हो उठता है। यह सत्ता है सत्वगुणप्रधान अन्तःकरण। पूर्व में इसमें चांचल्याभास रहता है, क्रमशः अभ्यासफल से यह सत्ता स्थिर ज्योति में परिणत हो जाती है। अभ्यास के फल से पश्चात्काल में साधक के साथ स्थिर ज्योति का तादात्म्य सम्पन्न हो जाता है। अब केवल मात्र स्पन्दन आत्मबोध रूप में विद्यमान रह जाता है! उन्मनी अवस्था विकसित होने लगती है। महाविन्दु आविर्भूत हो उठता

है। इस महाविन्दुरूप योगासन पर संवर्त्तानलरूप परमात्मा तथा चित्कलारूप पराशक्ति परस्पर आबद्धरूप में नित्यलीला के रूप में प्रकट हो जाती है।

जिस जगत् को जीव इन्द्रिय ग्राह्य तथा स्थूल कहता है, वह प्रत्याहार जनित प्रज्ञालोक में अतिवाहिक तथा कल्पना से सम्भूत रूप से प्रकट हो उठता है। इस प्रकार उसकी मनोमयी, कल्पना सम्भूत स्थिति स्पष्ट हो जाती है। जब तक स्थूल देहात्मबोध है, तब तक जीव को जगत् का स्थूल रूप ही अनुभूत होता है। इन्द्रियों के प्रत्याहार के साथ-साथ प्राण की गति सुषुम्ना पथ पर चलने लगती है और तब स्थूलसत्ता युक्त देहात्मबोध विगलित हो जाता है। जीव की दृष्टि से जगत् की स्थूलता अवगत हो जाती है। जो जगत् पहले स्थूलतः प्रतिभात हो रहा था, वह अब शक्तिमय तथा तैजस रूप में परिणत हो जाता है। यह तैजस रूप भी सत्वमय तथा कल्पना का विजृम्भण मात्र है। जैसे दीप की तेजोमय कणिका से तेजयुक्त प्रभा चतुर्दिक विकीर्ण होती है, उसी प्रकार केन्द्रगत् विशुद्ध सत्वरूप ज्योतिकलिका से ज्योतिर्मय प्रभामण्डल के समान समस्त जगन्मण्डल का आविर्भाव होने लगता है। केन्द्र विन्दु से चक्रोत्पत्ति का यही रहस्य है। अब यह अभिज्ञता प्राप्त होती है कि समस्त जगत् मनोमय है. मन की प्रक्रिया एवं क्रिया की विद्यमानता में मनोमय तथा कल्पनामय जगत् ही परिस्फुट होता रहता है। मन के अव्यक्त होने पर, समस्त जगत् भी अव्यक्त हो जाता है।

मन के स्थिर होने पर चैतन्य लाभ होता है। अब मनोमय जगत् भी नहीं है। जो है, वह चैतन्यशक्ति का विलास मात्र ही है। दर्पण में दृश्य का प्रतिबिम्बित होना तथा आत्मा में प्रतिबिम्बरूप जगत् का आविर्भूत होना, एक ही चमत्कार के दो पृष्ठ भाग हैं। इस अवस्था में समस्त विश्व चित्शक्ति की स्फुरणात्मक स्थिति ही प्रतीत होने लगता है। शक्ति के कूटस्थ में अन्तर्ध्यान होने पर, क्रिया की परावस्था में, विश्वातीत अतितुर्यावस्था का उदय होता है। यही ब्रह्म संस्था तथा अमृततत्त्व है। किसी भी मार्ग से साधना क्यों न की जाये, आत्मदर्शनपूर्वक आत्मा के परमस्वरूप में प्रतिष्ठित होने के लिये देह, इन्द्रिय, प्राण, मन और बुद्धि का आश्रय लेकर यथाविधि क्रिया योग की परावस्था में उन्नीत होना ही पड़ेगा। अन्य उपाय है ही नहीं। शास्त्रोक्त समस्त उपदेश इसी एक लक्ष्य को लेकर, विभिन्न स्तर के विभिन्न साधकों के लिये दिये गये हैं। जो साधक नहीं है, जो सद्गुरु के आदेशानुसार यथार्थ योग मार्ग में प्रविष्ट नहीं होता, उसके लिये शास्त्रोपदेश का गूढ़ समझना अत्यन्त दुरुह है। अति दुरूह होने पर भी यही शास्त्र का यथार्थ रहस्य है। समस्त शास्त्रों के बहिरंग उपदेश देश-काल आदि की विचित्रता के कारण विचित्र से प्रतीत होते हैं, तथापि अन्तरंग एक तथा अभिन्न ही है। इस अभिन्नता की ओर दृष्टि रखने से यथा समय शास्त्र रहस्य स्पष्ट हो जाता है।

✤

शिवाद्वैत

कश्मीरीय शिवाद्वैतवादी सिद्धान्त पूर्णत अद्वैतवाद से ओत-प्रोत है। दाक्षिणात्य पूर्णतः द्वैतवाद के पोषक होते हैं। दाक्षिणात्यों में द्वैतवाद का प्रचलन है, यह सत्य है, तथापि दक्षिण में शिवाद्वैतवाद का सम्यक् प्रवेश परिलक्षित होता है। द्वैतवादी शैवों के दर्शन को शैवदर्शन कहा जाता है। इसके अतिरिक्त विशिष्टाद्वैतवादी शैवों की मान्यता भी यत्र-तत्र प्रसारित होती आयी है। श्रीकण्ठ कृत ब्रह्मसूत्र का शैवभाष्य विशिष्टा-द्वैतवाद पर ही आधारित है। शिवाद्वैत तथा शाक्ताद्वैत दर्शन एक ही भित्ति पर आधारित है। इसमें शिव एवं शक्ति का पारस्परिक अभेदत्व प्रतिपादित किया गया है। शिव तथा शक्ति में अखण्डत्व है, अद्वयत्व है। इस अद्वैतत्व में तथा वेदान्त में वर्णित अद्वैतत्व में भिन्नता भी है। यह अध्यस्त अधिष्ठानवाद पर आधारित अद्वैतवाद नहीं है। शिवाद्वैत तथा शाक्ताद्वैत दर्शन के अनुसार जगत् ब्रह्म की स्वातंत्र्यात्मिका शक्ति का विजृम्भण रूप हैं। यहाँ स्वतंत्रता का तात्पर्य है स्वयं प्रकाश, जिसे प्रकाश के लिये अन्य किसी प्रकाश की आवश्यकता ही नहीं रहती। इसका तात्पर्य यह है कि वह स्वयं चैतन्यरूप है। यह शक्ति 'चितिशक्ति' कही जाती है। यह चितिशक्ति ही 'विमर्श रूपा' होती है। विमर्श का तात्पर्यार्थ है स्फूर्ति, उल्लास या प्रकाश। यह जगत् स्वतः प्रकाश चितिशक्ति का ही उल्लास है। वेदान्त में वर्णित माया तथा विमर्श में पार्थक्य परिलक्षित होता है। वेदान्तोक्त माया स्वप्रकाशरूपा नहीं है। वह जड़ तथा मिथ्यारूप है। उसका कार्यरूप यह जगत् भी मिथ्या है। एतद्विपरीत स्वातंत्र्यात्मिका शक्ति स्वप्रकाशरूपा है। वह ब्रह्मस्वरूपा है। इस कारण यह शक्ति तथा उसका कार्यरूप जगत् भी सत्य है। यह पारमेश्वरी शक्ति स्वरूपगोपन प्रक्रिया द्वारा जो क्रीड़ा करती है, उसके कारण प्रकाश ही जीवरूप धारण कर लेता है।

इस दर्शन में शिव, शक्ति तथा जीव की प्रधानता है, अतः इसे त्रिक्दर्शन कहते हैं। जगत शिवस्वरूप है। वह शिव-शक्ति तथा जीव के द्वारा ओत-प्रोत है। विशिष्टाद्वैतवादी कहते हैं कि जगत् ब्रह्म का ही अंग है। इसके विपरीत अद्वैतवादियों के मतानुसार जगत् ब्रह्म का आत्मस्वरूप है। यह चिति शक्ति का विजृम्भण मात्र है, और यह चितिशक्ति ही ब्रह्म के विमर्शरूप में आत्प्रकाशन का सामर्थ्य रखती है। दर्पण में मुख का प्रतिबिम्ब प्रतिच्छवित होता है। उसमें मुख तथा प्रतिबिम्ब के करणरूप दर्पण की भिन्नता परिलक्षित होती है, अर्थात् प्रतिबिम्ब, मुख तथा दर्पण भिन्न-भिन्न वस्तु है। स्वतः प्रकाशित चितशक्ति के उल्लास से ब्रह्म ही जीव-जगत् के रूप में प्रतिबिम्बित होते हैं, परन्तु यहाँ दर्पण की तरह पारस्परिक भिन्नता नहीं है, अपितु यहाँ ब्रह्म ही कर्त्ता, कर्म एवं करण रूप से है। इन सबकी नियामिकी चित्शक्ति भी ब्रह्म से अभिन्न है। सूर्य तथा सूर्यप्रकाश में कोई भेद नहीं है, चन्द्र तथा चंद्रिका में भी अभेदत्व है, उसी प्रकार ब्रह्म तथा चित्शक्ति अभिन्नवत् स्थित रहते हैं। ब्रह्म तथा

चित्शक्ति का उल्लास भाषागत दृष्टिकोणानुसार भिन्नवत् प्रतीत होता है, परन्तु यह उल्लास ब्रह्म से पृथक्रूपेण अवभासित होने पर भी पृथक् नहीं है। वह एकरूप ही है। सूर्य तथा सूर्यप्रकाश भिन्नतया अवभासित हो पर भी एक ही है। इस स्थल पर विवर्त्तवाद एवं विमर्शवाद में समानता परिलक्षित होती है। विवर्त्तवादियों का कथन है कि जगत् यद्यपि ब्रह्म से पृथक् प्रतीत होता रहता है, तथापि ब्रह्म ही जगत्रूपेण प्रतिभात होता है। दोनों मतों में इस मान्यता के सन्दर्भ में समानता है, परन्तु भेद यह है कि विवर्त्तवादी जगत को मिथ्या एवं मायाजनित मानते हैं। एतद्विपरीत विमर्शवादियों ने जगत् को चित्शक्ति का उल्लास कहा है, जो मिथ्या न होकर ब्रह्म से अभिन्न है। दोनों मतों में प्रक्रियाजनित भेद होने पर भी सिद्धान्त पक्ष से समानता का आभास प्राप्त होता है। दोनों मतों ने सैद्धान्तिक रूप से एक, अद्वितीय, प्रकाशस्वरूप ब्रह्मसत्ता को सत् रूप से स्वीकृति प्रदान की है। विमर्शवाद में ब्रह्म का अद्वयत्व अत्यन्त दृढ़रूपेण प्रतिष्ठित है। विमर्शवादी कहते हैं कि अद्वैत वेदान्त में मायावाद की अवतारणा बौद्धादिवादी सिद्धान्त के निरसनार्थ होती है। उसमें मायावाद मुख्य नहीं है। गौण तथा अवान्तर सिद्धान्त मात्र है। ब्रह्माद्वैत ही मुख्य तत्त्व है। मायावाद को न मानने पर भी ब्रह्माद्वैतवाद में तनिक भी न्यूनता नहीं आती, क्योंकि ब्रह्माद्वैतवाद की सम्पुष्टि विमर्शवाद द्वारा प्रमाणित है।

विमर्शवाद के अनुसार सदा शिव तत्त्व से लेकर पृथ्वीतत्व पर्यन्त के प्रकाशन अथवा अप्रकाशन (सृष्टि-संहार) में चिति ही मूल कारण रूपा है। पराशक्तिरूपा स्वतंत्रा चैतन्यमयी शक्ति ही चिति है, जो शिव से अभिन्नतया प्रतिष्ठापित रहती है। चिति का विकास है जगत् का अस्तित्वरूप उन्मेष! चिति का संकुचन होते ही जगत् भी संकुचित होकर विलीन हो जाता है। चित् से भिन्न तथा माया एवं प्रकृति से सृजित जीव कदापि जगत् कारण नहीं हो सकता। इसका कारण यह है कि ऐसा जीव प्रकाशरहित है और सत् रूप नहीं है। सतत् शुद्ध, स्वतंत्र प्रकाशरूपा चितिशक्ति का प्रकाश ही इस अनन्त जगत् का कारण है। अतएव वे एकाधाररूप से, युगपतरूप से जगत् की कार्य एवं कारणत्मिका शक्ति है। चिति ही विश्व की हेतुर्भूता हैं। अतः शंका उत्थित हो सकती है कि उपादान तथा कार्य की दृष्टि से वहाँ द्वैतत्व का संचार हो जाता है, अतः अद्वैतसत्ता के स्थान पर द्वैत सत्ता परिलक्षित होती है। इसका समाधान यह है कि चिति शक्ति अपनी स्वतंत्र इच्छा से, अपनी स्वरूप भित्ति पर ही जगत् का प्रकाशन करती हैं, उन्हें अन्य किसी उपादान की अपेक्षा नहीं है। यह कार्य होता है किसी अन्य कार्य कारण से असम्बद्ध रूप में। यदि चिति से अतिरिक्त अन्य उपादान का कार्यकारित्व स्वीकार किया जाये—उस अवस्था में चिति के पूर्वोक्त स्वातंत्र्य की हानि की संभावना हो जाती है। वे विश्वोन्मीलन करती हैं, तथापि वह विश्व चित् से भिन्न न होकर उनसे अभिन्न है। स्वप्रकाश चिद्ज्योति ही विश्वोन्मीलन का कारण है। उन्मीलन अर्थात सत्ता का अवस्था विशेषगत प्राकट्य। जिसे विश्व कहा जाता है वह चित् शक्ति जनित अवस्था विशेष मात्र है।

इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि प्रकाश ही परमार्थ है। इस प्रकाश को 'शिवपदवाच्य' कहा जाता है। यह स्वभावत: वेदकांश प्रधान होने पर भी, अपने स्वातंत्र्य के कारण वेद्यप्रधान विमर्शभाव को प्राप्त हो जाता है। यही है प्रकाशस्वरूप की शक्तिरूपी अवस्था। प्रकाश के उल्लास को विमर्श कहते हैं। यह विमर्श प्रकाश से अभिन्न है। अत: विमर्शान्तर्गत जो वेद्यांश है, वह प्रकाश (वेदकांश) से अभिन्न सिद्ध हो जाता है। (यहाँ पर वेदकांश का तात्पर्य है ज्ञाता तथा वेद्यकांश का तात्पर्य है ज्ञेय) इसका कारण यह है कि प्रकाश के अभाव में वेद्यकांश की प्रतीति नहीं हो सकती। यही कारण है कि वेद्यक (ज्ञेय) रूपी विश्व को जड़ कहना उचित नहीं है। अत: समस्त जगत् (विश्व) चिद्रूप ही है। 'घट: स्फुरति' से घट की प्रकाशरूपता ही परिलक्षित होती है। नैयायिकों के द्वारा घट का विषयताश्रय कहना उचित नहीं हैं। वेदान्त मतानुसार अध्यास द्वारा घट का ब्रह्मरूप स्फुरण कहा जाना भी उचित नहीं है। प्रकाश विश्व को अनुप्राणित करके विश्व में अभिव्यक्त होता है। इस कारण प्रकाश ही महाजाति है, वही महासत्ता है। विमर्श शून्य स्थल पर प्रकाश की अभिव्यक्ति नहीं होती। यही बिम्ब-प्रतिविम्बवाद का निष्कर्ष है। यहाँ प्रकाश ही बिम्ब है। विश्व प्रतिविम्ब रूप है। विमर्श को दर्पण कहा गया है। मुख का प्रतिविम्ब दर्पण में ही भासित हो सकता है। वह दर्पण के साथ भासमान होता है। उस दर्पण में भासित प्रतिविम्ब को ही मुख का प्रतिविम्ब कहते हैं। इसी प्रकार प्रकाश के अभाव में प्रपंच भासित ही नहीं होता। प्रपंच सर्वदा प्रकाश के साथ ही भासमान होता है। अत: प्रकाश में ही प्रपंच प्रतिविम्ब है। इस प्रकार प्रपंच का स्वरूप प्रकाश से अभिन्न है। यह प्रतिविम्ब है। यह प्रतिविम्ब कभी भी मुख और दर्पणादि के समान पार्थैक्य युक्त नहीं है विश्वसत्ता प्रकाश से भिन्न कदापि नहीं है। वेदान्तीगण का यह कथन कि प्रतिविम्ब कुछ भी नहीं है, उचित प्रतीत नहीं होता। नैयायिकों के अनुसार नयनरश्मि दर्पण प्रतिघात से परावृत होकर मुख का आभास दर्पणस्थ रूप में करती है। अत: प्रतिबिम्ब दर्पणरूप है यह प्रतिपादित होता है। वेदान्तियों का कथन है कि अविद्या के कारण दर्पण में अनिर्वचनीय मुखोत्पत्ति होती है। यहाँ शंका होती है कि यदि अनिर्वचनीयत्व मिथ्या है, तब वह अप्रमाणिक है। अत: यह मत पूर्णत: स्वीकार्य नहीं है। ऐसा अद्वैतवादी शैव मतावलम्बी कहते हैं। उनका कथन है कि प्रकाश के साथ सम्बन्ध होने के कारण प्रतीयमान प्रतिबिम्ब भी प्रकाशरूप ही होगा। फलत: वह सत्य है। यदि मिथ्यात्व से अतिरिक्त लोकोत्तर अभिप्राय से अनिर्वचनीयत्व की कल्पना की जाती है, तब वह आपत्तिरहित तथ्य के रूप में स्वीकार्य हो जाता है। इसका कारण यह है कि भगवान की विलासरूप स्वातंत्र्यशक्ति के विजृम्भित होने से लोकोत्तर चमत्कार का होना स्वाभाविक सा है। अविद्या क्या है? यदि कहते हैं कि 'अघटन घटना पटीयसी माया ही अविद्या है, तब वह (शिवाद्वैत मत से) स्वरूपगोपनकारिणी पारमेश्वरी क्रिया शक्ति है, अत: तब कोई विरोधवाद नहीं उठता। शिवाद्वैतवादी शक्ति के मिथ्यात्व को स्वीकार नहीं कर सकते। इसका कारण यह है कि प्रकाश से सम्बन्धित होने के

कारण, उसमें मिथ्यात्व आना संभव नहीं है। यदि प्रकाश के साथ शक्ति का सम्बन्ध नहीं माना जाये, उस स्थिति में शक्ति अलीक हो जाती है, अर्थात् वह वन्ध्यापुत्र के समान सत्तारहित ही हो जायेगी। जैसे 'वन्ध्यापुत्र' कहा जाना एक ऐसी अलीक स्थिति है, जिसमें पुत्र की कोई सत्ता ही नहीं रहती। यदि वन्ध्या है तो पुत्र हो ही नहीं सकता। उसी प्रकार अलीक रूप शक्ति की कोई कार्यक्षमता नहीं रह सकती। अत: वह अघटनघटनपटीयसी कैसे होगी? इस कारण शक्ति का प्रकाश से सम्बन्ध स्वीकार करना ही होगा। प्रकाश के साथ सम्बन्ध स्वीकार करते ही शक्ति (विमर्श) की सत्ता सत्य रूप सिद्ध हो जाती है। मिथ्यात्व की सत्ता ही नहीं रह जाती। इसी कारण शिवाद्वैतवादी वेदान्तसम्मत माया को स्वीकार नहीं करते। शिवाद्वैतवाद के अन्तर्गत् स्वभाव का अर्थ है स्वातंत्र्य। स्वातंत्र्य को स्वीकार करने से सभी प्रश्नों का समाधान प्राप्त हो जाता है। अद्वैतवादी शैवों के मतानुसार भावकार्य केवल सोपादानक ही होगा, ऐसी प्रतिबद्धता नहीं होती। इसका कारण यह है कि एक ही वस्तु आकाशादि सूक्ष्म कार्य तथा पृथ्वी आदि स्थूल कार्य का, एक साथ उपादान नहीं हो सकती। अतएव वेदान्त सम्मत माया को उपादान रूप में स्वीकार नहीं किया जा सकता।

प्रतिविम्ब ग्रहण करने के लिये दर्पण की स्वच्छता अत्यावश्यक है। प्रकाश ज्ञानस्वभाव रूप स्वच्छता को धारण करके स्वरूप का गोपन करता है। वह स्व-स्वरूप में स्वेच्छा स्वातंत्र्य के कारण—अपूर्णता का बोध करता है। फलत: उसमें विषय प्रपंच का उल्लास होने लगता है। वह प्रपंचरूपेण प्रकटित होकर स्व-स्वरूप को छिपा लेता है। यह प्रपंच ही क्रियाशक्ति है। अब यह प्रपंच प्रतिविम्बित होने लगता है। अत: यह विश्व प्रतिविम्ब है। समस्त जगत् अनन्त शक्तिमय होने पर भी इच्छा ज्ञान-क्रियाशक्तिरूप को प्राप्त होकर स्वातंत्र्य शक्ति में पर्यवसित हो जाता है। स्वातंत्राख्य शक्ति को सामान्य शक्ति भी कहते हैं, क्योंकि वह समस्त वस्तुओं में अन्तर्निहित रहती है। प्रकाश का स्वातंत्र्य ही उसका परमेश्वरत्व है। उक्त है—

स्वातंत्र्यमेतत् मुख्यं तत् ऐश्वर्य्य परमात्मन:

यह स्वातंत्र्य उक्त प्रकाश का अहंपरामर्श रूप विमर्श है। अहं प्रतीति प्रकाश का परत्व है तथा इदं प्रतीति प्रकाश का अपरत्व रूप है। अथच अहं तथा इदं, इन दोनों प्रतीति से युक्त परापरत्व स्थिति कही जाती हैं। भगवान परापरत्व युक्त होने पर भी, सर्व्वाकांक्षाशून्य होने पर भी शिव से लेकर क्षिति पर्यन्त तत्त्व प्रसार का उन्मेष करते हैं। वे तत्त्वों का अन्त: संयोजनरूप निमेष भी करते हैं। यही उनका उल्लास, क्रीड़ा अथवा विलास है। उनके अतिरिक्त कुछ है भी नहीं।

प्रश्न उठता है कि यह स्वातंत्र्य शक्ति जो रूपत्रय में प्रकटित होती है, प्रकाश से भिन्न है अथवा अभिन्न? यदि भिन्न कहते हैं, तब शक्तियुक्त प्रकाश कहने से विशिष्टाद्वैत सिद्ध होता है। अद्वैत सिद्धि नहीं होती। प्रकाश जब एक ओर अभिन्न है तब वह नाना रूपों में कैसे भासित होता है? इसका उत्तर यह है कि स्वातंत्र्यशक्ति की महिमा से नाना रूप में भासित होता है। ज्ञान, इच्छा तथा क्रिया रूपी शक्तित्रय

को प्रकाश से भिन्न मानना और प्रकाश को 'एक' कहना ही अर्थहीन है। कारण शिवाद्वैतवाद में शक्ति तथा शिव एक ही हैं। उनमें शक्ति तथा शक्तिमान रूपी भेद नहीं है—

ततश्च दृक्क्रियेच्छाद्या भिन्नाश्चेत् शक्तयस्तथा ।
एकः शिवः इतीयं वाक् वस्तुशून्यैव जायते ॥

अतः जो भेद भासित होता है, वह प्रतिभास मात्र है। वास्तविक नहीं है। इस कारण यहाँ विशिष्टाद्वैत अथवा द्वैतमत को कोई अवकाश ही नहीं है। अब नित्यत्वादि धर्म प्रकाशरूप सिद्ध हो जाते हैं। विभुत्वादि धर्म भी प्रकाशरूप ही है। अतएव अद्वैतभाव बना रहता है। अद्वैतहानि नहीं हो सकती। घट तथा पट उस प्रकाश से अभिन्न है। इस कारण घट तथा पट में भी पारस्परिक अभिन्नत्व सिद्ध हो जाता है। यदि कोई दो वस्तु एक तृतीय वस्तु से अभिन्न है, तब प्रथम तथा द्वितीय वस्तु में पारस्परिक अभिन्नत्व सुसिद्ध है। इस प्रकार परिणामवाद एवं विवर्त्तवादोक्त परिणाम एवं मायावाद का त्याग करके शुद्ध अद्वैतरूप शिवाद्वयवाद सुप्रतिष्ठ हो जाता है। वेद्य-वेदकरूप में 'स्व' से अतिरिक्त अन्य वस्तु की अपेक्षा न रखना ही स्वातंत्र्य है।

✤

विकासवाद

आध्यात्मिक दृष्टि से विकासवाद की सत्ता भावभंगी विशेष के सम्मुख दृष्टिगोचर होने लगती है। विकास प्राकृतिक रूप से होता है। साधारणत: ८४ लाख योनियाँ कही जाती हैं। नानाप्रकार के पशु, पक्षी, कीट, पतंग, स्थावर, जंगम की सृष्टि होती रहती है। यह तब तक सृष्टि करती रहती है, जब तक मनुष्य का निर्माण नहीं हो जाता। मनुष्येतर योनियों में कर्तृत्वाभिमान नहीं रहता। मनुष्य में ही यह परिलक्षित होता है। अत: यह उक्ति अक्षरश: सत्य है कि ईश्वर ने मनुष्य रूप में अपनी ही अनुकृति का प्रकाशन किया है। यह ईश्वर का प्रकाश परावर्त्तन ही कहा जायेगा। इसी प्रकाश परावर्त्तन के कारण मनुष्य में कर्तृत्वाभिमान का उदय हुआ है। कर्तृत्वाभिमान के साथ साथ कर्मतत्व भी प्रस्फुटित हो उठता है। मनुष्येतर समस्त योनि समूह में कर्म की सत्ता नहीं रहती। कर्म द्वारा कर्मफल रूप संसार दृढ़ होने लगता है। प्राकृतिक विकासवाद का तात्पर्य है संसार में, कर्मक्षेत्र में प्रवेश की तैयारी। संसारभाव दृढ़ होते ही मनोमय कोष कार्यरत हो जाता है। फलस्वरूप कर्मफल, जन्मजन्मान्तर, लोक-लोकान्तर में यात्रा प्रारम्भ हो जाती है। वह उर्ध्वलोकों में जाता है, अध:लोकों में जाता है। सर्वान्त में उसमें क्लान्तभाव का संचार होना स्वाभाविक सा है। इस क्लान्ति का नामान्तर है मुमुक्षत्व का उदय। अब उसे गुरु की प्राप्ति होती है। जिसे गुरु प्राप्ति नहीं होती, उसे अपने अन्त:स्थल में विवेक की प्राप्ति होती है। प्रथमत: अपनी इच्छा की प्रधानता रहती है, तत्पश्चात् सर्मपण के भाव का उदय होने लगता है। समर्पण से कृपा की प्राप्ति होना अवश्यम्भावी है। कृपा द्वारा विज्ञानमय कोष विकसित होने लगता है। यही है ज्ञानोदय। ज्ञानोदय द्वारा अध:-उर्ध्व गति का स्तम्भन हो जाता है। ज्ञान के विकास का फल है आनन्दोपलब्धि। सच्चिदानन्द में पहले सत्ता का व्यक्तीकरण होता है। इसके पश्चात् ज्ञानोदय होता है। सर्वान्त में आनन्दोपलब्धि होती है। यह है मानव का पूर्ण विकास। मनुष्यगत जो भी विकास होना था, वह आनन्दोपलब्धि के साथ-साथ पूर्ण हो जाता है अर्थात् सत्ता, ज्ञान तथा आनन्द का संचरण हो जाता है।

जिस प्रकृति में विकास होता है उसके स्तरत्रय होते हैं। प्रथम अपरा, द्वितीय परापरा तृतीय परा। अपरा प्रकृतिगत विकास में कर्म तथा सत्ता गठन होता है। परापरा प्रकृतिगत् विकास के साथ-साथ ज्ञान तथा आनन्द का उन्मेष होता है। अब पराप्रकृतिगत् विकास आनन्दातीत अवस्था है। सच्चिदानन्द के अन्दर आनन्दातीत, वास्तविक सत्ता के साथ योग करना पराप्रकृतिगत् विकास का रूप है। आनन्दमय कोष में पूर्ण दैवी सत्ता का विकास नहीं है। पराप्रकृतिगत् विकास की पूर्णता के साथ-साथ भगवत्भाव का उन्मेष हो जाता है। इसी को श्री अरविन्द ने Super Mind कहा है। आनन्दमय कोष (आनन्दावस्था) की उपलब्धि को Overmind ही कहा जा सकता है।

तदनन्तर Super Mind की अवस्था आती है। इसके अन्तर्गत मनुष्य का विकास इतने चरम उत्कर्ष को प्राप्त होता है, जिससे उसमें भगवत्ता आ जाती है।

Overmind की स्थिति तक योगमाया की सत्ता रहती है। जब मनुष्य को अन्तर्मुखी पथ की प्राप्ति होती है, तब उसे विकास का पथ भी प्राप्त हो जाता है। विचार द्वारा देहात्मबोध नहीं कटता। अन्तर्मुखी पथ की प्राप्ति से ही देहबोध भंग होता है। वास्तविक विश्वकल्याण का उदय होता है Supermind की अवस्था के उन्मेषोपरान्त। सर्वाग्र में सत्ता सम्बन्धित चेतना का भी अस्तित्व नहीं रहता। क्रमशः मनोमय कोष का गठन पूर्ण होने पर मनुष्य की सत्ता उपलब्ध होती है। तदनन्तर कर्माधिकार प्राप्त होता है। तत्पश्चात् कर्मधारा का अवगाहन करते-करते कभी ऊपर उठता है, कभी नीचे गिरता है। क्लान्ति आने पर गुरुकृपा से पथ प्राप्त होता है। इससे सर्वप्रथम चित्राज्य में विज्ञानमय कोष की प्राप्ति होती है। इसके अनन्तर आनन्दमयकोष रूपी आनन्दमय राज्य हस्तगत् होता है। यहाँ तक की प्राप्ति मात्र कोष प्राप्ति है। इसी कारण पराप्रकृतिगत् विकास का सम्पन्न होना अत्यन्त आवश्यक है। (यहाँ Overmind का तात्पर्य है अतिमानस तथा Supermind का अर्थ है अधिमानस)।

विषय को और अधिक स्पष्ट किया जाता है। योनियों की संख्या चौरासी लाख है। पंचकोष का तात्पर्य है अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय तथा आनन्दमय। अन्नमय कोष जगत् की प्रारम्भिक स्थिति है। समस्त स्थावर अन्नमय के ही अन्तर्गत है। तदनन्तर प्राणमय सृष्टि को, जिसमें अन्नमय तथा प्राणमय, उभय की सत्ता है, उसे जंगम सृष्टि कहते हैं। मनुष्य में मनोमय कोष का विकास सम्यक् रूप से हो जाता है। मन के विकास का फल है विचार शक्ति। यहीं से कर्म का आविर्भाव होने लगता है। मनुष्य से निम्न जीव श्रेणी को कर्म का अधिकार नहीं है। इसी कारण उन्हें पाप तथा पुण्य का फल भोग है ही नहीं। मनोमय की सत्ता प्रकट होने पर ही पुण्य अथवा पाप के फलभोग का प्रारम्भ होने लगता है। जो जैसा कर्म करता है उसे तदनुरूप फल भोगना पड़ता है। विवेक द्वारा उचित एवं अनुचित का विचार करना चाहिए। यह विचार मनोमय कोष की परिपक्वता का फल है। मनोमय कोष के विकासोपरान्त मनुष्य भी विकसित होने लगता है। परिणामतः अच्छे कर्म से उर्ध्वलोक की प्राप्ति होती है और निम्न कर्म से निम्नलोकों की यातना प्राप्त होती है। उर्ध्वगति की वर्णना अत्यन्त विस्तृत है। उर्ध्वलोकों में फल भोग की समाप्ति के अनन्तर क्षीण पुण्य होने पर जीव पुनः मनुष्य योनि को प्राप्त होता है। इस उर्ध्व-अधः गति में विकास का नियम कार्यरत नहीं है। अधः भूमि का विकास अपरा प्रकृतिगत विकास है। उर्ध्वभूमि का विकास दैवी विकास अथवा पराप्रकृतिगत् विकास कहा जाता है। अधः विकास में चौरासी लाख योनि समूह के विकास का क्रम परिलक्षित होता है। जब जीव अधः एवं उर्ध्व गति जनित संताप से क्लान्त होने लगता है, तब उसे वैराग्य का उदय होना स्वाभाविक है। अनन्त कोटि जन्म ले चुके हैं, अब अच्छा नहीं लग रहा है। इस

अवस्था में विज्ञानमय कोष विकसित हो जाता है। विज्ञानमय कोष के विकास के साथ-साथ सद्गुरु की प्राप्ति होती है। यही प्राप्ति ज्ञान के विकास का स्त्रोत है। अब ज्ञान क्रमशः विकसित होता है और इससे कर्म वेग कटने लगता है। विज्ञानमय कोष के चरम विकास से जीवन्मुक्तावस्था प्राप्त हो जाती है। अब परमेश्वर के चिदंश का आस्वादन संभव हो जाता है। इसके पश्चात् आनन्दांश का आस्वादन आनन्दमय कोष में प्राप्त होने लगता है। यही है पंचम कोष।

अन्नमय तथा प्राणमय कोष की स्थिति स्थावर जंगम रूप जीव जगत की स्थिति है। मनोमय कोष मनुष्य की स्थिति है और आनन्दमय कोष को अतिमानवीय स्थिति कहते हैं। मानवीय स्तर में कर्मफल से अधोर्ध्व गति प्राप्त होती है परन्तु विज्ञानमय कोष की स्थिति में चिदंश का अनुभव प्रारम्भ हो जाता है। विज्ञानमय कोष की पूर्णस्थिति में मानवीय विकास की स्थिति पूर्ण हो जाती है। कर्म समाप्त होने से ज्ञानावस्था का उदय होता है और मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। इतने पर भी दिव्य जीवन की प्राप्ति नहीं होती। मनुष्य कर्म के अधीन है। वह कर्माधीन है, तथापि उसके सच्चिदानन्दमय स्वरूप का विकास हो सकता है। विज्ञान तथा आनन्द की प्राप्ति के साथ-साथ उसे मोदन की प्राप्ति हो जाती है। इतने पर भी उसे दिव्य जीवन की प्राप्ति नहीं हो सकी। अरविन्द के अनुसार इसके लिये अधिमानसिक स्थिति की प्राप्ति आवश्यक है। कर्मों का अन्त होने पर समर्पण होता है। गीता में उक्त है—

सर्व धर्मान् परित्यज्य: मामेकं शरणं ब्रज ।
अहं त्वां सर्व पापेप्य: मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥

इसके पूर्व गीता में कहा गया है—

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेर्जुन तिष्ठति ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यंत्रारूढ़ानि मायया ॥

ईश्वर कर्मानुसार मनुष्य को नियमित करते हैं। इस कारण उसे निरन्तर कर्मफल का भोग करना पड़ता है। इसके पश्चात् कर्मक्लान्त होने पर 'सर्वधर्मान परित्यज्य' की स्थिति आती है।

विकास द्विविध होता है। एक विकास वह है जिसके पूर्व मनोमय कोष में प्रवेश नहीं हुआ है। यह है प्रकृति का विकास। अन्नमय कोष पर्यन्त तक का विकास ही विकासवाद के अधीन है। मनोमय कोष गठन के पश्चात् विकासवाद का नियम अस्तमित हो जाता है। अब चलता है कर्मगत विकास। कर्मानुगामिनी गति के अनुसार जन्मचक्र चलने लगता है। इसके अनन्तर ज्ञान की प्राप्ति होती है। यही है विज्ञानमयता। तदनन्तर भगवान के आनन्दांश का आस्वादन चलने लगता है। दिव्य जीवन का विकास पंचकोषों के अन्तर्गत् नहीं है। मन का विकास उस स्तर तक करना है, जिससे वह उस स्थिति में पहुँचे जिसे दिव्य अवस्था कहते हैं। अधिमानस अवस्था किसे कहते हैं? अधिमानस अवस्था से भी उच्चस्तरीय अवस्था है। सब कुछ छोड़कर 'सर्वधर्मान परित्यज्य' इसे एकायन मार्ग कहा जाता है। अतिमानस अवस्था

से मोक्ष प्राप्ति होती है, परन्तु अधिमानस अवस्था से मिलता है लीला में प्रवेशाधिकार। अतिमानस एवं अधिमानस में यही पार्थक्य है। मोक्ष पर्यन्त अतिमानस स्थिति है, जो चतुर्थपुरुषार्थ के अन्तर्गत् है। इससे पंचमपुरुषार्थरूप भगवत् प्रेम प्राप्त नहीं होता। वह मिलता है अधिमानस अवस्था में। पंचम पुरुषार्थ है स्वयं को भगवान की इच्छा पर पूर्ण रूपेण छोड़ देना। इससे मानस की प्रकृति ही परिवर्तित हो जाती है। वह अतिमानस स्थिति से अधिमानस स्थिति में परिवर्तित हो जाता है। इस मन में दैवी शक्ति कार्य करने लगती है।

मनुष्य की सत्ता के अन्तरतम में एक धारा निहित रहती है। इस धारा से मनुष्य में वह कर्तृत्व उदित होता है जो दैवी कर्तृत्व है। यह शक्ति दबी रहती है। जब यह शक्ति उन्मुक्त होती है, तभी अधिमानस स्थिति का प्रकाशन हो जाता है। प्राकृतिक धारा है पंचकोष की धारा, परन्तु यह धारा (अधिमानस) अप्राकृतिक धारा है। इसका तात्पर्य है कि भगवान की भगवत्ता रूप शक्ति का साक्षात्कार प्राप्त करना। इस धारा का विकास मन से ही प्रारम्भ होता है। स्वरूपावस्था प्राप्त होने पर अतिमानस धारा प्राप्त होती है। अतिमानस से अत्यन्त उर्ध्व में अधिमानस धारा अवस्थित है। विकासरत अवस्था में चैतन्य शक्ति मनोमय स्तर से ही प्रकाशित होती है। इस चेतना में आत्मचेतना का प्रस्फुटन होता है। आत्मचेतना के प्रादुर्भाव के साथ-साथ उर्ध्वचेतना का स्रोत उन्मुक्त हो जाता है। यह उर्ध्वचेतना सबके लिये नहीं है। इसका गठन होता है अधिमानस विन्दु से। यहाँ मानस नहीं है। मानस का कार्य भी नहीं है। अथच मानस है! आत्मा नहीं है, ईश्वर नहीं है, परमेश्वर भी नहीं है, तथापि वहाँ अन्त:विन्दु से दैवीशक्ति कार्यरत रहती है। यही अधिमानस है।

शक्ति जागृति

सुषुम्ना की उर्ध्वमुखता से शक्ति का (कुण्डलिनी का) जागरण साधित होता है। यह उर्ध्वमुखता आती है गुरु की कृपा से। पुस्तक पढ़ने से तथा अन्य प्रकार से शक्ति का जागरण नहीं होता। गुरुशक्ति से कुण्डलिनी जाग्रत होती है। कुण्डलिनी स्थित है मूलाधार में। मूलाधार में इड़ापिंगला रूप दो प्रकार की वायु संचरण करती रहती है। इन दोनों के मध्य में सुषुम्ना की सत्ता है। सुषुम्ना सुप्त है। उसे जाग्रत करना होगा। जानने मात्र से वह जाग्रत हो जाती है। सुषुम्ना के जागरण के साथ-साथ कुण्डलिनी उर्ध्वोत्थित होने लगती है। कुण्डलिनी मूलाधार से उर्ध्वोत्थित होते-होते आज्ञाचक्र पर्यन्त स्थित हो जाती है। भ्रूमध्य ज्योतिर्मय हो जाता है। दिव्यचक्षु उन्मीलित हो जाता है। तदनन्तर वह सहस्रार में पहुँच जाती है। यह सहस्रार में स्थित हो जाती है। वहाँ का कार्य पूर्ण करके अन्तर्लीन हो जाती है। इस स्थिति के पश्चात् वह शरीर को भी छोड़कर ब्रह्माण्ड में चली जाती है।

नरदेह के ही समान आकृति का एक विशाल शरीर है, जिसे ब्रह्माण्ड कहते हैं। अब कुण्डलिनी ब्रह्माण्ड में प्रवेश करती है। क्रमशः ब्रह्माण्ड का भी भेदन करने लगती है और ब्रह्माण्ड का भेदन करते हुये शून्य में चली जाती है। शून्य में जाकर उसका भी भेदन करने लगती है। शून्य का भेदन करते हुये, शून्य को उत्तीर्ण करने के पश्चात् महाशून्य में चली जाती है। इसके पश्चात् वह विश्वोत्तीर्ण हो जाती है। इसके साथ ही पथ उन्मुक्त हो जाता है। पथ की उन्मुक्तता के साथ ही एक स्थान प्राप्त होता है, जो आत्मा का निज स्थान है। इस स्थान को आत्मा विस्मृत कर चुकी थी। इस स्थान पर सब कुछ है अथच कुछ भी नहीं है। यह अत्यन्त अद्‌भुत स्थान है। यह समस्त विश्व जगत् आत्मा के सम्मुख प्रकट रहता है। कुण्डलिनी जागरण के साथ ही देव-देवी आदि जो कुछ है, सबका भेदन हो जाता है। इस भेदन के पश्चात् आत्मस्वरूप में स्थिति प्राप्त होती है। एक शक्ति सभी में है। इसका योग मिलने से भगवद्‌भक्ति की प्राप्ति होती है। प्रेम, द्वैत, अद्वैत आदि सबकी सत्ता शक्ति के ही प्रभाव से है।

पथ उन्मुक्त हो जाने पर महाप्रकाश प्रकट हो जाता है। प्रकाश क्रमशः ओत-प्रोत होता है। ओत-प्रोत होने पर जगत् की निवृत्ति हो जाती है। यह कालातीत अवस्था है। इसमें जो अनुकूल एवं अनुरूप होगा, वही प्रवेश कर सकता है।

✤

आत्मसंस्थित

(१) गीता में उक्त है—

आत्मसंस्थं मनः कृत्वा, न किंचिदपि चिन्तयेत्।

प्रत्यभिज्ञा हृदय में भी यही कहा गया है। इसका अर्थ है कि सर्वाग्र में अपनी चिन्ताधारा को आत्मसंस्थित करना होगा। शुद्ध विकल्प का आश्रय लेना होगा। इस अवस्था के दृढ़ हो जाने पर इस शुद्ध विकल्प का भी त्याग हो जाता है। अब निर्विकल्पावस्था की प्राप्ति हो जाती है। सीधे-निर्विकल्पावस्था में जाने की चेष्टा करने पर जड़ समाधि प्राप्त हो जाती है। इसका नामान्तर है प्रकृति लय। यह अच्छी स्थिति नहीं है। यह घोरतर विघ्नरूप कही जाती है। सम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति के अनन्तर असम्प्रज्ञात में जाना चाहिये। इसी का नाम है 'आत्मसंस्थं मनः कृत्वा।' सर्वप्रथम आत्म विषयक शुद्ध विकल्प ज्ञान का उदय होना आवश्यक है। तदनन्तर इस ज्ञान की निवृत्ति भी होनी चाहिये। यदि ज्ञान का उदय हुये बिना आत्मवृत्ति का रोध हो जाता है, वह निष्फल है। इस श्लोक में प्रक्रियाद्वय का अंकन है। प्रथम में आत्मसंस्थित होना, द्वितीय है, मन का रोध करना। यही प्रकृत योग शुद्ध विकल्प है। इस विकल्प का रोध होने पर सम्यक् समाधि रूप निर्विकल्पावस्था प्रकट हो जाती है। यही वास्तविक निरोध है।

यदि प्रारम्भ में ही मनोरोध की चेष्ठा की जाती है, वह अप्राकृतिक है। ज्ञान की प्राप्ति होना आवश्यक है। ज्ञान प्राप्ति के पूर्व मन का रोध करना जड़त्वान्धकार से आच्छन्न कर देता है। किसी भी शास्त्र अथवा महापुरुष ने यह उपदेश नहीं दिया है। शुद्ध विकल्प का उदय तदनन्तर उसका रोध, यही कर्तव्य कहा गया है। शुद्ध विकल्प ही पश्यन्ति भूमि है। तदनन्तर पश्यन्ति का रोध होता है। यही वास्तविक निरोध कहा जाता है।

(२) गीता में उक्त है—

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य,
मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते,
प्रलये न व्यथन्ति च॥

गीता में भिन्न-भिन्न उपदेशों का अंकन किया गया है। उसमें ज्ञानोपदेश है, कर्म, योग का उपदेश है। इसमें कितने ही प्रकार के उपदेश लोकहितार्थ अंकित किये गये हैं। प्रत्येक उपदेश का यथार्थ स्थान जानना, तथा उसका समन्वय कर सकना ही अध्येता का कार्य होना चाहिये। गीता में योग की भी चर्चा है तथा विभूति भी वर्णित है, तथापि योग तथा विभूति में पारस्परिक पृथक्ता है।

इस श्लोक में 'मम साधर्म्य मागता:' कहा गया है। यह 'मम' कौन है। ब्रह्म है, या भगवान है अथवा ईश्वर है? एक स्थान पर ईश्वर ने कहा कि 'मैं सर्वभूतों में रहता हूँ' 'ईश्वर: सर्वभूतानां हृद्देशेर्जुन तिष्ठति' इस स्थान पर 'मैं' रूप से नहीं कहा गया। तथापि 'सर्वधर्माणां परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज' में 'मम' का उल्लेख है। इस सबका एक निश्चित् संकेत है। एक स्थान पर कहा गया कि 'चतुर्विधा भजन्ते माम्' यहाँ भी 'मम' का उल्लेख है। यहाँ पर अन्तरात्मरूप भगवान ही 'मम' रूप से अभिसंज्ञित हैं। यह आत्मसाधर्म्य का पथ है। आत्मा का साधर्म्य क्या है? आत्मसाधर्म्य है आत्मा की पूर्णहंता स्थिति। इस स्थिति में उन्नीत होने पर आत्मा जन्म-मरण रूप परिणाम-शीलता के अनुभव से मुक्त होकर पूर्णाहंभाव में स्थित हो जाता है।

✤

पूर्ण सत्य

पूर्ण सत्य में कल्पना को अवकाश नहीं मिलता। देहबोध तक ही सीमाबद्ध भाव रहता है, फलतः मन सक्रिय रहता है तथा कल्पना का उदय होता रहता है। जो बाहर रहते हुये इस पूर्ण सत्य की चर्चा करता है, वह स्वयं द्वैतभूमि में रहते हुये अद्वैत तत्त्व को समझने की चेष्टा करता है। अद्वैत की चर्चा करने पर भी उसकी स्थिति द्वैत में ही रहती है। एतद्विपरीत अद्वैत के साधक का लक्ष्य एक में ही निबद्ध रहता है। वह बहुः में एक को देखने की चेष्टा करता है, बहु में जो एक अनुस्यूत है, उस एक में ही उसका लक्ष्य एकाग्र रहता है। वह देखता है कि एक ने ही अनन्तरूप तथा अनन्त भावों में आत्मप्रकाश किया है। उसकी दृष्टि में अनन्त विचित्रताओं के रहने पर भी सब कुछ एक ही है। इस द्रष्टा की दृष्टिभंगी में भेद भासित ही नहीं होता। यहाँ द्वैताद्वैत का भी प्रश्न उत्थित नहीं होता। जगत् के जीव द्वैतभूमि में ही रहते हैं अतः उनकी दृष्टि में भेद भासित होता रहता है। अतः उन लोगों की जब जहाँ जिस प्रकार की दृष्टि रहती है, तब वहाँ उसी प्रकार के दृश्य का दर्शन होता रहता है। इन्हें सर्वव्यापक शाश्वत एक का साक्षात्कार नहीं मिलता।

सर्वत्र 'तत्' को देखना ही ब्रह्म दृष्टि है। यदि किसी को दृष्टि में 'तत्' के अतिरिक्त अन्य कुछ भासित होता है, तब उसकी सत्ता में अविद्या तथा अज्ञान की क्रीड़ा ही वर्तमान रहती है। समस्त नाम, रूप गुणादि उसी 'एक' के हैं। सब कुछ ही वह 'एक' ही है। वही स्वयं प्रकाशरूप अपने आप में प्रकाशमान है। दूसरे का भान वहाँ है ही नहीं। यही ब्रह्मज्ञान है। अन्य का भान आते ही अज्ञान का उन्मेष होने लगता है।

यह जो एक है, उसको जैसे स्वप्रकाश कहा जाता है, वैसे ही वह अप्रकाश एवं अव्यक्त भी है। इसका कारण यह है कि जब दूसरा है ही नहीं, तब वह किसके समक्ष प्रकाशित हो ? अतः वह सदा अव्यक्त एवं गुहा में निहित है।

✤



म.म.पं. गोपीनाथ कविराज
की
अध्यात्मपरक कृतियाँ

मनीषी की लोकयात्रा : डॉ. भगवतीप्रसाद सिंह
(महामहोपाध्याय पं. गोपीनाथ कविराज का जीवन दर्शन)

भारतीय संस्कृति और साधना (दो खण्डों में) * तान्त्रिक साधना और सिद्धान्त
तान्त्रिक वाङ्मय में शाक्त दृष्टि * सनातन साधना की गुप्तधारा
ज्ञानगंज * दीक्षा
साधु दर्शन और सत्प्रसंग (भाग-१,२) * साधु दर्शन और सत्प्रसंग (भाग-३)
श्रीसाधना * योग-तन्त्र-साधना
परातन्त्र साधना पथ * कविराज प्रतिभा
स्वसंवेदन * काशी की सारस्वत साधना
भारतीय साधना की धारा * विशुद्धानन्द प्रसंग तत्व कथा
श्रीकृष्ण प्रसंग * अखण्ड महायोग
अखण्ड महायोग का पथ और मृत्यु विज्ञान

कविराजजी के गुरू तथा अन्य योगी-संत

योगिराजाधिराज स्वामी विशुद्धानन्द परमहंसदेव : जीवन और दर्शन
पुराण पुरुष योगिराज श्री श्यामाचरण लाहिड़ी
योगिराज तैलंग स्वामी

विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी

मूल्य : अस्सी रुपये